

श्रावक प्रतिक्रमण

(संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद एवं विवेचन युक्त)

टीकाकार :
आचार्य महाप्रज्ञ

श्रावक प्रतिक्रमण

(छाया, शब्दार्थ, भावार्थ एवं विवेचनयुक्त)

टीकाकार :
आचार्य महाप्रज्ञ



जैन विश्व भारती प्रकाशन

प्रकाशक : जैन विश्व भारती
पोस्ट : लाडनूं-३४१३०६
जिला : नागौर (राज.)
फोन नं. : (०१५८१) २२६०८०/२२४६७१
ई-मेल : jainvishvabharati@yahoo.com

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

संकलनकर्ता
श्री टीकमचंद डागा

द्वितीय संस्करण : जून २०१४
तृतीय संस्करण : अगस्त २०१४

मूल्य : ११०/- (एक सौ दस रुपया मात्र)

मुद्रक : श्री वर्धमान प्रेस, नवीन शहादरा, नई दिल्ली

शुक्तौ गतो मौक्तिकमम्बुबिन्दुर्मूल्याहमाकांक्षितमङ्गभृद्धिः।
अम्भोद! किं विस्मयनीयमत्र स्वातेरगम्यो महिमा न बुद्धः॥१॥

यदर्थमात्रोपयुता हि वर्णाः पूर्णत्वमायान्ति विना प्रयासं।
सोऽन्तःस्थितानामुचितत्वरणां चित्रो विधिः कोऽप्यभिलक्षणीयः॥२॥

मत्सन्निभस्तुच्छमतिर्मनुष्य आवश्यकं यद् विवृणोत्यनिद्रः।
सोऽयं प्रभावस्तुलसी प्रभूणामादेशवर्ती सकलोऽधिगम्यः॥३॥

शुक्ति मुंह में गिरा सलिल-बिन्दु मौक्तिक बन जाता।
क्या आश्चर्य? ओ जलधर! इसमें, है अगम्य स्वाति की महिमा॥

आधी मात्रा वाले व्यञ्जन, पूर्ण सहज बन जाते।
वह अन्तःस्थित स्वर की महिमा, है उससे अनभिज्ञ कौन जन॥

तुच्छबुद्धि मुझ जैसा मानव, आवश्यक की टीका करता।
क्या मेरा उसमें विनियोजन, है आदेश सकल तुलसी का॥

प्राक्कथन

आत्म-चिन्तन अध्यात्मवाद का प्रमुख अंग है। उच्च श्रेणी वाली आत्माएं निरन्तर सावधान रहती हैं। उनके लिए आत्म-चिन्तन कोई पृथक् तत्त्व नहीं है, पर साधारण मनुष्य साधना की प्रारम्भिक अवस्था में उस दशा को नहीं पा सकते। उन पर प्रमाद की एक गहरी छाया रहती है। उसके द्वारा वे चलते-चलते स्खलित हो जाते हैं। अतएव उनको अपनी स्थिति पर वापिस आने के लिए आत्म-चिन्तन करना नितान्त आवश्यक रहता है।

आत्म-चिन्तन का समय

आत्म-चिन्तन का अर्थ केवल ध्यान धरना ही नहीं है, उसका अर्थ है आचरण और मर्यादाओं का अवलोकन करना, आचार की भूल को सुधारने के लिए प्रायश्चित्त करना। उसके लिये संध्याकाल सबसे उचित है। दिन की भूल को देखने के लिए सूर्यास्त के बाद का समय और रात की त्रुटियों को देखने के लिए सूर्योदय से पूर्व का समय निर्धारित किया हुआ है। यह कालमान परम्परा के अनुसार एक मुहूर्त्त का है।

आत्म-चिन्तन और आवश्यक

जो काम अवश्य किया जाए उसका नाम आवश्यक है। आवश्यक क्रिया प्रत्येक व्यक्ति के लिए, प्रत्येक दृष्टिकोण से भिन्न भिन्न होती है। एक ही वस्तु प्रत्येक व्यक्ति के लिए हर एक दशा में आवश्यक नहीं होती। आत्म-साधक के लिए अपनी त्रुटियों को देखना एवं उनके संशोधन के लिए कुछ-न-कुछ क्रिया करना आवश्यक है। अतएव इस आत्म-चिन्तन का नाम आवश्यक है। प्रस्तुत शास्त्र उस आवश्यक क्रिया का साधन है अतएव इसका नाम भी 'आवश्यक सूत्र' है।

आवश्यक और प्रतिक्रमण

प्रतिक्रमण शब्द का अर्थ है लौट आना। प्रमादवश आत्मा निजी स्थान

से, शुभ योग से विचलित होकर पर-स्थान में—अशुभ योग में चली जाती है, उस आत्मा को फिर शुभ योग में स्थापित करने वाली आवश्यक क्रिया का नाम प्रतिक्रमण है। अतएव आवश्यक का दूसरा नाम प्रतिक्रमण भी है। प्रतिक्रमण की सीधे शब्दों में—अपनी भूलों को देखना और उनका प्रायश्चित्त करना—यही उपयुक्त परिभाषा हो सकती है।

श्रावक-प्रतिक्रमण

साधक दो श्रेणी के होते हैं—गृहस्थ-श्रावक और मुनि। सावद्य प्रवृत्ति को यथाशक्ति त्यागने वाले श्रावक कहलाते हैं और पूर्ण रूप से त्यागने वाले मुनि। मुनियों के आवश्यक में सब प्रकार की सावद्य वृत्तियों से लगने वाले दोषों का चिन्तन किया जाता है और श्रावक के आवश्यक में त्यागी हुई सावद्य वृत्तियों से लगने वाले दोषों का प्रायश्चित्त करना होता है। प्रस्तुत शास्त्र में श्रावक के आवश्यक आत्म-चिन्तन का विधान किया है। इसीलिए इसका नाम श्रावक-प्रतिक्रमण है।

आवश्यक के विभाग

आवश्यक के विभाग छह हैं—

- | | |
|--------------------|------------------|
| १. सामायिक | ४. प्रतिक्रमण |
| २. चतुर्विंशतिस्तव | ५. कायोत्सर्ग |
| ३. वन्दन | ६. प्रत्याख्यान। |

सामायिक—राग-द्वेष रहित आचरण का नाम सामायिक है अथवा राग-द्वेष रहित वृत्ति का, समता का, सावद्य-प्रवृत्तियों को त्यागने का नाम सामायिक है। सामायिक के दो भेद हैं—देशविरति और सर्वविरति। शक्ति के अनुसार जो सावद्य-वृत्ति त्यागी जाती है, वह देशविरति सामायिक है। सावद्य-वृत्ति का सर्वथा त्याग करना सर्वविरति सामायिक है। देशविरति का अधिकारी श्रावक होता है और सर्वविरति का मुनि।

चतुर्विंशतिस्तव—भगवान् आदिनाथ से लेकर भगवान् महावीर—इन चौबीस तीर्थकरों की स्तुति करना।

वन्दन—गुरु को वन्दन-नमस्कार करना।

प्रतिक्रमण—अतिचारों की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त करना। 'तस्स मिच्छामि दुक्कडं' वह पाप मेरे लिए निष्फल हो, इस प्रकार चिन्तन करना।

कायोत्सर्ग—शरीर को स्थिर कर, मौन रहकर ध्यान करना।

प्रत्याख्यान—आगामी पापकारी प्रवृत्तियों को रोकने के लिए प्रत्याख्यान करना, आत्म-संयम करना।

क्रम सार्थकता

सबसे पहले समता का पालन करना जरूरी है। समता को अपनाए बिना सद्गुणों से प्रेम और अवगुणों से ग्लानि नहीं हो सकती। राग और द्वेष—ये दोनों विषमता और पक्षपात के पिता हैं। मोह में फंसा रहने वाला मनुष्य एक से स्नेह और एक से द्वेष कर सकता है, पर उनके गुण-दोष की परख या विश्लेषण नहीं। जब तक अपनेपन एवं दूसरेपन का पर्दा आंखों से नहीं हटता अर्थात् जब तक अस्थायी या दैहिक सम्बन्धों को नहीं भुलाया जाता, तब तक आत्मिक गुणों के प्रति मनुष्य श्रद्धा नहीं रख सकता अथवा गुणों की पूजा करना नहीं सीख सकता। इसीलिए शास्त्रकारों ने सामायिक को सबसे पहला स्थान दिया है, समता को ही आध्यात्मिक उन्नति का प्रथम सोपान कहा है।

समता को अपनाने वाला पुरुष गुणी-पुरुषों के गुणों को आदर की दृष्टि से निहार सकता है, गा सकता है, उन्हें अपने जीवन में उतार सकता है। इसीलिए सामायिक के बाद चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करने का विधान किया गया है।

गुण का महत्त्व समझ लेने के बाद ही मनुष्य गुणी के सामने सिर झुकाता है—गुरुजनों को वन्दना करता है। जब तक गुणों की वास्तविकता को न जान लिया जाए तब तक मन सरल नहीं होता और मन के सरल हुए बिना श्रद्धापूर्वक नमस्कार नहीं हो सकता। इसीलिए चतुर्विंशतिस्तव के बाद 'वन्दन' को स्थान मिला है।

जिसका मन, वाणी और शरीर विनम्र हो जाता है, वह अनाचार का सेवन करना नहीं चाहता, प्रमाद के कारण यदि कोई दोष लग भी जाए तो वह उसे दबाने की कोशिश न कर अपने पाप-कर्म को धो डालने के लिए अपनी भूलों का प्रायश्चित्त करना चाहता है। अतएव वन्दन के बाद प्रतिक्रमण का स्थान नियत किया गया है।

भूलों को याद करने के लिए एवं उनसे छुटकारा पाने के लिए कायोत्सर्ग करना अर्थात् शरीर को स्थिर रखना अत्यन्त जरूरी है। शरीर की स्थिरता मन

की स्थिरता का श्रेष्ठतम साधन है। इसीलिए प्रतिक्रमण के बाद कायोत्सर्ग का उल्लेख हुआ है।

स्थिर वृत्ति का अभ्यास करने वाला मनुष्य ही आत्मिक संयम को अपना सकता है। जिसका मन डाँवाडोल होता है, जो शरीर पर काबू नहीं पा लेता, वह प्रत्याख्यान नहीं कर सकता यानी आगामी दोषों से बचने के लिए दृढ़ संकल्प नहीं कर सकता। इसी कारण से प्रत्याख्यान को कायोत्सर्ग के बाद में रखा है।

आवश्यक का फलितार्थ

इनका फलितार्थ यह है कि सामायिक आत्म-शोधन का प्राणभूत तत्त्व है। गुणी एवं संयमी पुरुषों के स्तवन और वन्दन हमारी साधना के आदर्श एवं लक्ष्य की ओर अग्रसर करने वाले हैं। प्रतिक्रमण अपनी भूल से बिसरी हुई साधना की स्थिति में फिर से लौट आने का उपाय है। कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त करने में सहारा देने वाला है। भविष्य में वैसी ही सदाचार एवं सद्भावना की स्थिति को कायम रखने के लिए प्रत्याख्यान है। और इन सबका एकीकरण आत्म-शोधन का एक अमोघ मंत्र है।

आवश्यक और पुनरुक्ति

कई लोगों को प्रतिक्रमण के विषय में यह सन्देह रहता है कि इसके प्रत्येक अंग में पुनरुक्तियाँ हैं। एक-एक पाटी की पुनरावृत्ति होती रहती है। अब इसमें संशोधन की आवश्यकता है और गुंजाइश भी। पुनरुक्तियों को हटा देने से यह और भी अधिक उपयोगी एवं सुव्यवस्थित बन जाएगा।

वस्तुतः यह शंका वस्तुस्थिति को न समझने का परिणाम है। पुनरुक्ति सब जगह दोष नहीं है। पुनरुक्ति-दोष साहित्य के चुने हुए क्षेत्रों में ही माना गया है। हम इस संदर्भ में एक श्लोक उद्धृत कर रहे हैं, उसमें यह साफ-साफ कहा है कि अमुक-अमुक स्थलों में पुनरुक्ति दोष नहीं माना जाता, प्रत्युत वह उनका गुण है—

अनुवादादरवीप्सा, भृशार्थविनियोगहेत्वसूयासु।

ईषत्संभ्रमविस्मय, गणनस्मरणे न पुनरुक्तम्॥

प्रतिक्रमण स्मरण है—आत्म-चिन्तन है। उसमें यदि एक ही पाठ अनेक बार आये तो भी वह पुनरुक्त दोष नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि जो एक बार आया हुआ पाठ दूसरी बार फिर आता है, वह सम्बन्ध के बिना नहीं;

किन्तु किसी खास उद्देश्य की पूर्ति के लिए आता है। साधारण बातों पर भी हम निगाह डालें तो यह शंका दूर हो जाती है। जैसे हम नमस्कार मंत्र की माला जपते हैं। उसमें एक ही मंत्र दो चार बार नहीं, एक सौ आठ बार बोला जाता है, पर वह दोष नहीं है। आत्म-चिन्तन, स्मरण, ध्यान का यही मार्ग है।

प्रतिक्रमण का कालमान

एक प्रश्न आता है—प्रतिक्रमण करने का समय एक मुहूर्त का क्यों निश्चित किया गया है? आगम-सूत्रों में प्रतिक्रमण का कालमान कितना होना चाहिये, इसकी कोई चर्चा नहीं मिलती। आगम के उत्तरवर्ती ग्रन्थों में इसका कालमान एक मुहूर्त का मिलता है और यह शास्त्रीय दृष्टिकोण से उचित भी है। शास्त्रों में छद्मस्थ-पुरुष की एकाग्रता की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की बतलाई है। अन्तर्मुहूर्त के बाद उसमें कुछ न कुछ अन्तर आ जाता है।

प्रतिक्रमण करने वाला एक सरीखी एकाग्रता से अपने दोषों की आलोचना करे, अतएव यह समय-परिमाण स्थापित किया गया है। आचार्यों ने यह सिद्धान्त रूप से स्वीकार किया है कि आगम में जिनका कालमान न मिले, उन सबकी अवधि अन्तर्मुहूर्त समझनी चाहिये। जैसे नमस्कार-सहिता (नवकारसी) एवं सामायिक की काल-मर्यादा आगम में वर्णित नहीं है तो भी उनका परिमाण अन्तर्मुहूर्त माना जाता है। श्रीमज्जयाचार्य ने आगम के सूक्ष्म रहस्यान्वेषण द्वारा ही उक्त काल-व्यवस्था प्रमाणित की है। वह इस प्रकार है—उत्तराध्ययन के २६वें अध्ययन में साधु-सामाचारी का वर्णन करते हुए बतलाया गया है कि साधु दिन के अन्त में प्रतिक्रमण करे और उसके बाद स्वाध्याय करने के लिए (कालं तु पडिलेहए) काल प्रतिलेखन करे—स्वाध्याय के उपयुक्त समय की जांच करे। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रतिक्रमण का समय सूर्यास्त से विकाल बेला तक का है। विकाल बेला में अस्वाध्यायी रहती है। विकाल-अस्वाध्यायी का समय एक मुहूर्त का है। उसके बाद स्वाध्याय करने का विधान है, अतः प्रतिक्रमण-कालमान एक मुहूर्त का स्वयं सिद्ध हो जाता है।

प्रतिक्रमण और भाषा

आवश्यक की भाषा के विषय में भी बहुत लोग कहते हैं—आज भी हमारे संध्या सूत्र की वही भाषा है जिसका युग कई शताब्दियों पूर्व बीत चुका है। आज तो हमारा पाठ-मंत्र हमारी मातृभाषा में ही होना चाहिये, जिससे हम उसके

तथ्य को समझ सकें। इस विषय में इतना ही कहना काफी होगा कि जो विचार जिस भाषा के, जिन शब्दों में प्रकट होते हैं, उनमें जो मौलिकता होती है, वह उनके अनुवाद में नहीं रह सकती। इसीलिए उसका मूल तो ज्यों का त्यों सुरक्षित रखा जाता है और उसका अर्थ समझने के लिए मातृभाषा में शब्दार्थ और भावार्थ है ही।^१

प्रतिक्रमण में कुछ पाठ पुनरावृत्त होते हैं। जैसे 'तस्सुत्तरी' का पाठ पहले आवश्यक में भी आता है और पांचवें में भी। इस पाठ का दोनों जगह आना जरूरी है, क्योंकि दोनों आवश्यकों में कायोत्सर्ग किया जाता है और तस्सुत्तरी का पाठ कायोत्सर्ग की प्रतिज्ञा कराने वाला है। अतएव जितनी बार कायोत्सर्ग किया जाए उतनी बार ही इसका आना जरूरी है।

यहां प्रश्न हो सकता है कि 'खमासमणा' का पाठ दो बार क्यों बोला जाता है? अधिक बार क्यों नहीं? क्योंकि वह तो गुरु-वन्दन है, अतः दो बार की तरह चार बार बोला जाए तो क्या आपत्ति है? ऐसी शंकाओं के बारे में हमें यह समझना चाहिये कि प्रतिक्रमण का कालमान एक मुहूर्त्त का नियत है। उसको ध्यान में रखकर ही इसकी यह व्यवस्था हुई है।

प्रतिक्रमण का अधिकारी कौन ?

आवश्यक किसके लिए उपयोगी है और किसे करना चाहिए? इस पर भी सब एकमत नहीं हैं। कई लोगों का विचार है कि प्रतिक्रमण उन्हें ही करना चाहिए जिनके बारह व्रत धारण किये हुए हों। जिनके व्रत धारण किये हुए नहीं होते, उनके लिए प्रतिक्रमण की क्या आवश्यकता? प्रायश्चित्त त्याग के भंग से उपजे दोषों की शुद्धि के लिए है। त्याग ही नहीं तो क्या दोष और क्या उनका प्रायश्चित्त? पर यह दृष्टिकोण ठीक नहीं। व्रत स्वीकार किये हों या न किये हों, प्रतिक्रमण करना तो अच्छा ही है। व्रत में कोई स्खलना हो गई हो तो उसकी शुद्धि हो जाती है और जो ऐसे ही करता है, उससे भी कम से कम आत्म-निरीक्षण का मौका तो मिलता है, मन और वाणी की शुद्ध प्रवृत्ति होती है, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग होता है, त्याग के प्रति रुचि पैदा होती है।

१. वर्तमान में प्रचलित श्रावक प्रतिक्रमण में अतिचार आदि का हिन्दी में पद्यानुवाद है। देखें परिशिष्ट पृ. १८८-२०४।

प्राचीन आचार्यों ने लिखा—

प्रतिक्रमणमप्येवं, सति दोषे प्रमादतः।

तृतीयौषधकल्पत्वाद्, द्विसंध्यमथवाऽसति॥

औषधि तीन तरह की होती है—एक औषधि रोग में लेने पर लाभ पहुंचाती है और रोग के बिना हानि। दूसरी श्रेणी की दवा रोग में लाभ करती है, रोग के बिना न लाभ करती है और न हानि। तीसरी श्रेणी की औषधि वह है, जो रोग में फायदा करती है और उसके बिना भी शरीर को स्वस्थ, पुष्ट और तेजस्वी बनाती है। प्रतिक्रमण इस तीसरी श्रेणी की दवा के समान है। यदि अतिचार लगने पर किया जाए तो उससे अतिचार की शुद्धि हो जाती है। यदि अतिचार के बिना किया जाए तो भी उससे शुद्ध प्रवृत्ति होती है, आत्म-उत्थान होता है। इसलिए प्रतिक्रमण प्रत्येक स्थिति में लाभकारक है और व्रत में हुए छिद्रों को रौंधने का उद्देश्य तो मुख्य है ही। उत्तराध्ययन के २८वें अध्ययन में स्पष्ट कहा गया है—

पडिक्कमणेणं वयच्छिद्दाइं पिहेइ।

व्रती पुरुष प्रतिक्रमण के द्वारा व्रत के छिद्रों को रोकते हैं अर्थात् त्याग में जो कोई त्रुटि होती है, वह आलोचना से सुधारी जा सकती है। इत्यादि अनेक हेतुओं से प्रतिक्रमण का सर्वतोमुखी महत्त्व जाना जाता है।

प्रतिक्रमण क्यों?

प्रतिक्रमण क्यों करना चाहिये, यह कोई गूढ़ बात नहीं है। आदमी स्नान क्यों करता है? शरीर को साफ एवं स्वस्थ रखने के लिए। प्रतिक्रमण भी मानसिक अवस्था को स्वच्छ एवं स्वस्थ रखने के लिए आत्म-स्नान है। जिसका मन मलिन और दुर्बल होता है वह नैतिक जीवन की भूमिका से गिर जाता है। मन अपने दोषों से ही मैला बनता है। आपसी विरोध, एक दूसरे की निन्दा, एक दूसरे के प्रति ईर्ष्या, आक्षेप आदि ऐसे बड़े-बड़े दोष हैं, जो मन को साफ सुथरा नहीं रहने देते। उनका काम ज्यों त्यों उसमें विकार पैदा करना ही है। इन दोषों से छुटकारा पाने के लिए प्रतिक्रमण एक सफल साधन—सहायक है। प्रतिक्रमण की प्रथम प्रतिज्ञा में अतिचारों—दोषों की आलोचना करने का दृढ़ संकल्प होता है। उसी लक्ष्य के अनुसार प्रतिक्रमण में मुख्यतया दो बातें होती हैं—अपने दोषों को देखना और उनका प्रायश्चित्त करना। समूचा प्रतिक्रमण मैत्री की भावना से

ओतःप्रोत है। वह प्राणिमात्र के प्रति सद्भावना एवं सहृदयता का बर्ताव करने की कुंजी है।

प्रतिक्रमण और भाव

हर एक काम में सावधानी की अपेक्षा रहती है। प्रतिक्रमण के लिए भी वह जरूरी है। सावधानी का पहला कारण यह है कि हम जो करना चाहें, उससे पहले उसकी असलियत को समझें। प्रतिक्रमण करने से पूर्व ही उसके उद्देश्य को सामने रख लेना चाहिए और उद्देश्य को अटल रखते हुए आखिरी पंक्तियों तक गतिमय रहना चाहिये। जब लक्ष्य में शिथिलता आती है तब मन इधर-उधर दौड़ने लग जाता है। मन की अस्थिरता से आवश्यक क्रिया भावरूप न रह कर द्रव्यरूप हो जाती है अर्थात् वास्तविकता से व्यावहारिकता में चली जाती है। इसीलिए प्रतिक्रमण करने वाले को उसके प्रत्येक शब्द के अर्थ को हृदयंगम कर लेना चाहिये और प्रतिक्रमण करते समय ध्यान को स्थिर रखना चाहिये।

प्रतिक्रमण और हिन्दी विवेचन

प्रतिक्रमण की अनेक विशाल संस्कृत टीकाएं लिखी हुई हैं। पर वे प्रत्यक्ष रूप से आज के युग की मांग को पूरा नहीं कर सकतीं। कारण कि संस्कृत पढ़ने वाले आज बहुत कम हैं। इसीलिए साधारण लोग उसकी अमूल्य विचार-निधि से कोई लाभ नहीं उठा सकते। इसी कारण से प्रतिक्रमण के मुख्य मुख्य पहलुओं को आधुनिक भाषा में समझाने की आवश्यकता हुई। प्रस्तुत विवेचन उसका ही परिणाम है। इसकी एक टीका तो मारवाड़ी में आचार्यश्री के आदेशानुसार मुनिश्री गणेशमलजी ने इससे पहले ही बना ली थी, जिससे इसके लिखने में बहुत सहायता मिली है। अन्यान्य प्रान्तवासियों को मारवाड़ी समझने में कठिनाई होती है। इसी उद्देश्य को सामने रखकर आचार्यश्री ने इसकी हिन्दी टीका लिखने का आदेश देने की कृपा की—उसे ही मैं कार्य रूप में परिणत कर सका हूँ।

आचार की कुंजी है प्रतिक्रमण

मानव जीवन के मुख्य दो पहलू हैं—आचार और विचार। विचार-शास्त्र के द्वारा मनुष्य गंतव्य पथ का निश्चय करते हैं और आचार-शास्त्र के द्वारा आचरणों का अभ्यास। यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से प्रतिक्रमण आचार-शास्त्र की कोटि का ग्रन्थ नहीं है। इसमें आचार पद्धति का निरूपण भी नहीं है। विशुद्ध रूप से यह प्रायश्चित्त शास्त्र है। फिर भी आचार-विशुद्धि का हेतु होने के कारण इसे

आचार की कुंजी कह सकते हैं। जब तक अतिचार एवं अनाचार की जानकारी नहीं हो पाती तब तक कोई भी मनुष्य आचार पालने में कुशल नहीं हो पाता। प्रस्तुत ग्रन्थ में आचार के दोषों का विस्तृत वर्णन है। इन दोषों के वर्जन से आचार अपने आप विशुद्ध बन जाता है। इसमें परोक्ष रूप से कहे हुए आचार के अनुसार चलने वाले मनुष्य निःसन्देह अपने को ऊंचा उठा सकते हैं। जो बारह व्रतों का उपदेश है, वह मानो विशुद्ध जीवन का अनूठा चित्र है। उसमें एक उपयोगी समाज का दिग्दर्शन है, रूपरेखा है। प्रतिक्रमण धर्म का विशुद्ध अंग है। इसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपने स्तर को कितना ऊंचा उठा सकता है, यह पाठक स्वयं समझ सकेंगे, पर जो मनुष्य धार्मिक आचरण न करते हुए यह आरोप लगाते हैं कि धर्म से हमें कोई लाभ नहीं मिलता, वह उनकी कमजोरी है, धर्म का कोई दोष नहीं। उसका कोई पालन ही नहीं करे तो उससे लाभ कैसे मिले ?

इस प्रसंग में मैं एक अप्रासंगिक बात की भी चर्चा करना जरूरी समझता हूं, जिसमें आश्चर्य और खेद का सम्मिश्रण है। बहुधा सुनने एवं पढ़ने को मिलता है कि धर्म आज के युग के लिए उपयोगी नहीं, वह चाहे जैन हो या कोई दूसरा। जो दर्शन जिस लिए चले थे, वे अपना काम कर चुके। आज उनसे हमें कोई सहायता नहीं मिल सकती। उनके कथनानुसार धर्म से समाज को कोई बल मिले या न मिले—वह तो एक दूसरी बात है। पर जब हम धर्म की मूल भित्ति को देखते हैं, धर्म हमें क्यों मान्य है, इस पर दृष्टि पसारते हैं, तब उक्त शंका अपने आप निर्मूल हो जाती है। आर्थिक उन्नति के लिए, भौतिक साधनों का विकास करने के लिए, धर्म की आवश्यकता न तो कभी पहले महसूस की गई और न आज भी की जाती है और न की जानी चाहिये। समाज एवं शासन को व्यवस्थित बनाये रखने के उद्देश्य से—जैसा कि कई लोगों का खयाल है—न तो वह चला और न अब चलना ही चाहिए।

व्यवस्था सामूहिक जीवन का एक आवश्यक अंग है, उसमें धर्म का क्या सवाल ? उसके बिना कोई टिक नहीं सकता। वह अनिवार्य है। उसके लिए धर्म की क्या आवश्यकता हुई और आज भी क्या हो सकती है ? जो वस्तु जिसके बिना ही बन सके, उसके लिए उसकी कल्पना करना व्यर्थ है। धर्म के बिना जब व्यवस्था हो सकती है तब उसके लिए धर्म की कल्पना करने की जरूरत ही क्या है ? और जो जरूरत समझते हैं, उनके लिए धर्म व्यवस्था का ही

पर्यायवाची शब्द है, इससे आगे कुछ नहीं। ऐसा मानने वाले अपने आपको आस्तिक समझते हों या नास्तिक; वस्तुतः आत्मा को न मानने वाले ही समझने चाहिये। जो सच्चा आस्तिक है—जिसे आत्मा पर दृढ़ विश्वास होता है, वह धर्म को व्यवस्था की सीढ़ी से आगे की वस्तु मानता है। उसकी दृष्टि में धर्म का उद्देश्य होता है—व्यक्ति का आत्म-विकास, दर्शन की वाणी में जिसका नाम मोक्ष है। हां! धर्म से व्यवस्था को बल मिलता है पर वह उसका गौण फल है। वह भी उसी हालत में जबकि सब लोग हृदय से धर्म को पालने वाले बन जाएं। अन्यथा वह भी नहीं। क्योंकि व्यवस्था को कायम रखने के लिए किसी न किसी रूप में बल-प्रयोग करना ही पड़ता है। धर्म को वह कतई नामंजूर है।

धर्म से समाज एवं शासन की व्यवस्था न तो कभी पहले चली थी और न आज भी चल सकती है। धर्म तो केवल व्यक्ति-व्यक्ति की आत्मा की सद्व्यवस्था कर सकता है, जबर्दस्ती एवं दण्ड-विधान से बांधे जाने वाले समष्टि के विचारों की नहीं। अतएव यह कहा जा सकता है कि धर्म की उद्देश्यानुसारी उपयोगिता जो पहले थी, वह आज भी है और जो आज है, वह पहले भी थी; उसमें कोई अन्तर नहीं आ सकता। जैसा कि आचार्यश्री तुलसी ने लिखा है—‘अपरिवर्तनीयस्वरूपत्वेन’ लौकिक कर्तव्यों से धर्म को भिन्न मानने के अनेक हेतुओं में यह भी एक हेतु है। जिस समय जहां जैसी व्यवस्था जरूरी जान पड़ती है वहां वैसी ही बन जाती है। जैसे सामूहिक जीवन के प्रारम्भ में कुलकरों की आवश्यकता हुई थी। उसके बाद जब सामूहिक अन्याय बढ़ने लगे तब राजतन्त्र का जन्म हुआ। राजतन्त्र की मनमानी में जब साम्राज्यवाद पनपने लगा, जन-साधारण के हितों की ओर ध्यान नहीं दिया जाने लगा तब जनतंत्र में सुख की आभा मिली। जनतन्त्र को भी लोकहित के लिए अधूरा मानने वाले व्यक्तियों ने समानता के आधार पर समाजवाद को जन्म दिया। इस प्रकार ज्यों-ज्यों समय बीतता चला गया त्यों-त्यों लोकमत का प्रतिनिधित्व करने वाली व्यवस्था भी बदलती रही और रहेगी। चूंकि शासन-नियम भौतिक सुखों को पाने के लिए बनाये जाते हैं। वह देश, काल और भूमि की परिस्थितियों से अलग-अलग होते हैं। भिन्न-भिन्न देशवासियों की उपयोगिताएं भी भिन्न-भिन्न और उन्हें साधने के तरीके भी भिन्न-भिन्न हैं। अतः उनमें परिवर्तन होना स्वाभाविक है। इसके विपरीत धर्म का लक्ष्य सदा और सबके लिए एक है—आत्म-साधन है। इसीलिए वह अभिन्न और अपरिवर्तनीय है। इस दशा में समाज एवं शासन-व्यवस्था की

त्रुटियों के कारण धर्म को बदनाम करना और धर्म हमारे लिए आज कोई काम की चीज नहीं—ऐसा कहना एकान्त अविवेकपूर्ण है।

प्रतिक्रमण शुद्ध हृदय की आवाज है, रूढ़ि नहीं

प्रतिक्रमण का प्रत्येक शब्द शुद्ध भावना का अग्रदूत है। प्रतिक्रमण करने वालों का दिल साफ होना चाहिए। वह शुद्ध हृदय की आवाज है, रूढ़ि नहीं। कलह-कदाग्रह करना, वैमनस्य-वैर विरोध रखना, दूसरों की निन्दा करना आदि-आदि बातें प्रायश्चित्त का महत्त्व समझने वालों को शोभा नहीं देतीं। एक ओर हम 'खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे' का ध्यान धरते हैं, दूसरी ओर किसी से अनुचित व्यवहार करके माफी मांगने से हिचकिचाते हैं। इसे प्रतिक्रमण की सार्थकता नहीं कह सकते। यह समझ की त्रुटि है। इसका अर्थ तो यह हुआ कि हम केवल प्रतिक्रमण के शब्द जपते हैं, अर्थ नहीं समझते। वरना 'खामेमि सव्वे जीवा' के अर्थ को समझने वाला ऐसा नहीं कर सकता। इन शब्दों में हम इस भावना को स्पष्ट करते हैं कि मैं सब जीवों से मेरे अनुचित व्यवहार की माफी चाहता हूँ और दूसरों के अनुचित व्यवहारों को मैं साफ दिल से माफ करता हूँ। फिर हमें अपने दोषों को स्वीकार करने में एवं उनके लिए क्षमा मांगने में क्यों आपत्ति होनी चाहिए? क्यों छोटी-छोटी बातों के लिए समाज की शृंखला को छिन्न-भिन्न करना चाहिये? ये बातें ऐसे तो छोटी हैं पर समाज संगठन के लिए बहुत बाधक हैं। श्रावकों के लिए यह नितान्त विचारणीय है।

महामान्य आचार्यश्री तुलसीगणी का कृपापूर्ण आदेश ही इस टीका-निर्माण का हेतु है। हमारी संस्था के नियमानुसार शरीर और वाणी ही नहीं अपितु मन तक आचार्यदेव के चरणों में समर्पित है। अक्षरबोध से लेकर जो कुछ है, वह सब उन्हीं की देन है। अतएव मैं श्रीचरणों का उपकार या आभार मानने की बात कैसे कहूँ? मैं स्वयं उन्हीं का हूँ और मेरा जो कुछ प्रयास है, वह सब उन आर्य-चरणों की पुनीत उपासना का फल मात्र है।

विक्रम संवत् २००२

पौष कृष्णा १

मुनि नथमल

(आचार्य महाप्रज्ञ)

द्वितीय संस्करण के संदर्भ में

वि.सं. २००२ में आचार्यश्री तुलसी का श्रीङ्गरगढ़ में चतुर्मास था। उस चतुर्मास में मुनिश्री नथमल (आचार्यश्री महाप्रज्ञ) ने श्रावक प्रतिक्रमण पर हिन्दी भाषा में टीका लिखी। उस ग्रंथ की प्रतिलिपि सुजानगढ़ के प्रतिष्ठित श्रावक श्री टीकमचंदजी डागा ने की। दीपावली वीर निर्वाण संवत् २४७७ में प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ। पन्द्रह सौ प्रतियों का वह संस्करण अतिशीघ्र समाप्त हो गया।कालान्तर में वह दुर्लभ एवं अप्राप्य जैसा हो गया।

वि.सं. २००८ में आचार्यवर का जयपुर में चतुर्मास था। उस समय आचार्यश्री महाप्रज्ञ की पूर्व प्रकाशित किन्तु वर्तमान में अनुपलब्ध कृतियों के पुनर्मुद्रण का प्रसंग सामने आया। एतद्-विषयक निर्णय हुआ और पूर्व में प्रकाशित एवं वर्तमान में अनुपलब्ध पुस्तकों की एक सूची बनी। श्रावक-प्रतिक्रमण का नाम भी उस सूची में था। श्रावक-प्रतिक्रमण पुस्तक की प्राप्ति का प्रयत्न शुरू हुआ। सरदारशहर के प्रतिष्ठित श्रावक मंगलचंद कन्हैयालाल जम्मड़ के घर संगृहीत कुछ प्राचीन पुस्तकों में 'श्रावक-प्रतिक्रमण' पुस्तक उपलब्ध हो गई। वि.सं. २०१० के प्रारंभ में इस पुस्तक की कंपोजिंग का कार्य शुरू हुआ। प्रथम प्रूफ का निरीक्षण भी कर लिया गया। उसी वर्ष आचार्यश्री महाप्रज्ञ का महाप्रयाण हो गया। अकस्मात् उत्पन्न इस स्थिति से कार्य में अवरोध आना स्वाभाविक था। अन्यान्य कार्यों में व्यस्तता के कारण यह कार्य विलंबित होता रहा। सन् २०१४ में मंडी आदमपुर प्रवास में इस कार्य को पुनः हाथ में लिया और चालीस दिवसीय प्रवास में कुछ अन्य कार्यों के साथ यह कार्य भी संपन्न हो गया।

प्रस्तुत ग्रंथ में परम श्रद्धेय आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने 'श्रावक-प्रतिक्रमण' का युगीन संदर्भों में विशद विवेचन किया है। आज से सत्तर वर्ष पूर्व लिखे गए ग्रंथ में अतिशय विद्वत्ता और विलक्षण प्रतिभा का दर्शन होता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ

ने जीवन के तीसरे दशक के पूर्वार्द्ध में यह विवेचन किया। राजस्थानी-संस्कृत भाषा के प्रचलन के उस युग में हिन्दी में इस प्रकार का विवेचन एक असाधारण मेधा का स्वयंभू साक्ष्य है। इस महत्त्वपूर्ण एवं मौलिक कृति का लगभग सत्तर वर्ष बाद पुनर्प्रकाशन हो रहा है। आश्चर्य इस बात का है कि श्रावक प्रतिक्रमण का विवेचन करने वाला, श्रावक प्रतिक्रमण के हृदय को समझाने वाला इतना महत्त्वपूर्ण ग्रंथ इतने दिन तक दृष्टि से ओझल कैसे रहा ? क्यों नहीं इस ओर ध्यान केन्द्रित हुआ ? क्या इसे एक भूल नहीं मानना चाहिए, जिसका संशोधन अत्यधिक विलंब से हो रहा है ? इसलिए यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं लगती—श्रावक प्रतिक्रमण का प्रस्तुत संस्करण अप्रथम होते हुए भी प्रथम जैसा प्रतीत हो रहा है।

मुझे यह कहने में भी कोई अत्युक्ति प्रतीत नहीं होती—पूर्ण यौवन वय में आचार्यश्री महाप्रज्ञ द्वारा प्रस्तुत इस सारस्वत अवदान की सत्तर वर्ष पूर्व जितनी प्रासंगिकता और उपयोगिता थी, आज सत्तर वर्ष बाद भी उतनी ही प्रासंगिकता और उपयोगिता है। श्रावक-प्रतिक्रमण एक महान् आध्यात्मिक अनुष्ठान है। इसके अनुशीलन और प्रयोग से श्रावक जीवन को सफल और सार्थक बनाने की दिशा उद्घाटित हो सकती है।

५ मई २०१४
मंडी आदमपुर

मुनि धनंजयकुमार

विषय-सूची

१. नमस्कार सूत्र	२३
२. वन्दन-विधि	२९
३. सामायिक-प्रतिज्ञा	३३
४. ईर्यापथिक सूत्र	३८
५. कायोत्सर्ग-प्रतिज्ञा	४२
६. चतुर्विंशति-स्तव	४६
७. शक्र-स्तुति	५०
८. प्रतिक्रमण-प्रतिज्ञा	५५
९. अतिचार चिन्तन पाठ	५७
१०. ९९ अतिचारों का ध्यान	६१
११. सुगुरु वन्दन विधि	६८
१२. तस्स सव्वस्स	७२
१३. चत्तारि मंगलं	७४
१४. ज्ञानातिचार	७६
१५. दर्शन-स्वरूप अतिचार	८०
१६. अहिंसा अणुव्रत	८६
१७. सत्य अणुव्रत	९९
१८. अचौर्य अणुव्रत	१०६
१९. स्वदार-संतोष व्रत	११२
२०. इच्छा-परिमाण व्रत	११८

२१. दिग्ब्रत	१२६
२२. भोगोपभोग व्रत	१३२
२३. पन्द्रह कर्मादान	१३६
२४. अनर्थदण्ड-विरति व्रत	१४२
२५. सामायिक व्रत	१४८
२६. देशावकाशिक व्रत	१५३
२७. पौषधोपवास व्रत	१५६
२८. अतिथिसंविभाग व्रत	१६१
२९. संलेखना अतिचार	१६५
३०. तस्स धम्मस्स	१६८
३१. खामणा	१७०
३२. ८४ लाख जीवयोनि	१७२
३३. सामायिक पारण विधि	१७३
३४. दैवसिक प्रायश्चित्त	१७४
३५. परिशिष्ट	१७५-२०७
● पंचपद वन्दना	१७७
● प्रतिक्रमण विधि	१८२
● श्रावक प्रतिक्रमण	१८५

श्रावक प्रतिक्रमण

णमुक्कार सुत्तं
(नमस्कार सूत्र)

णमो अरहंताणं ।
णमो सिद्धाणं ।
णमो आयसियाणं ।
णमो उवज्झायाणं ।
णमो लोए सव्वसाहूणं ।

छाया

नमः अर्हद्भ्यः, नमः सिद्धेभ्यः, नमः आचार्येभ्यः, नमः उपाध्यायेभ्यः,
नमः लोके सर्वसाधुभ्यः ।

शब्दार्थ

णमो अरहंताणं—मैं अर्हत् भगवान् को नमस्कार करता हूँ।^१

णमो सिद्धाणं—मैं सिद्ध भगवान् को नमस्कार करता हूँ।

णमो आयरियाणं—मैं आचार्य महाराज को नमस्कार करता हूँ।

णमो उवज्जायाणं—मैं उपाध्याय महाराज का नमस्कार करता हूँ।

णमो लोए सव्वसाहूणं—मैं लोक के सर्व साधुओं को नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ—इसका नाम नमस्कार महामन्त्र है। इसमें पांच श्रेणी की परम आत्माओं को नमस्कार करने का विधान है।

नमस्कार किसे करना चाहिए ?

नमस्कार पूज्य आत्माओं को करना चाहिए। पूज्य आत्माओं की परीक्षा

१. प्राचीन ग्रंथों में प्रस्तुत पद के अनेक पाठान्तर मिलते हैं—अरहंताणं, अरिहंताणं, अरूहंताणं। तेरापंथ धर्मसंघ में वर्तमान में 'णमो अरहंताणं' पद मान्य एवं प्रचलित है।

के लिए हमें प्रत्येक आत्मा के गुणों पर दृष्टिपात करना होगा। तत्पश्चात् उन गुणों के आधार पर सब आत्माओं का विभाजन और वर्गीकरण करना पड़ेगा। मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, चारित्र और पूर्ण कर्मक्षय—इन चार लक्षणों से आत्माओं के चार विभाग होते हैं। यथा—

- | | |
|---------------|--------------------|
| १. बहिरात्मा | ३. साधक परमात्मा |
| २. अन्तरात्मा | ४. सिद्ध परमात्मा। |

—जिनको आत्मा आदि तत्त्वों का यथावत् भान नहीं है, वे आत्माएं मिथ्यात्व के कारण बहिरात्मा कहलाती हैं।

—जिन्हें आत्मा आदि का भान है, वे आत्माएं सम्यक्त्व के कारण अन्तरात्मा कहलाती हैं।

—जिन्होंने आत्मा को जड़ पदार्थ से पृथक् करने के लिए सब पापकारी प्रवृत्तियों का परित्याग किया है, वे आत्माएं चारित्र के कारण साधक परम-आत्मा कहलाती हैं।

—सब कर्मों का नाश कर जिन्होंने आत्मा का शुद्ध स्वरूप मोक्ष पा लिया है, वे आत्माएं सर्वोच्च विशुद्धि की प्राप्ति के कारण सिद्ध परम-आत्मा कहलाती हैं।

इन चार कक्षाओं में सब आत्माओं का वर्गीकरण है। अध्यात्म-दृष्टि में परमात्मा ही नमस्कार के योग्य हैं। चाहे वे साधक हों या सिद्ध। सिद्ध परमात्मा सर्वथा मल रहित होते हैं इसलिए इन्हें नमस्कार किया जाता है। साधक परमात्माओं की मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक प्रवृत्तियां हिंसा, असत्य आदि दोषों को पूर्णरूपेण त्याग देती हैं। अतएव वे पूज्य नमस्कार के योग्य बन पाते हैं।^१ इस नमस्कार सूत्र में इन दो श्रेणी की परमात्माओं को ही नमस्कार किया जाता है। जैसे—‘णमो सिद्धाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।’

अर्हत्, आचार्य और उपाध्याय साधु-श्रेणीगत ही हैं। इनका पृथक् निर्देश

१. द्रव्य और भाव उभय-चारित्र सम्पन्न मुनि ही वंद्य हैं; (आ. नि. गा. ११६), वन्दनीय तथा अवन्दनीय के सम्बन्ध में सिक्के की चतुर्भुगी प्रसिद्ध है (आ.नि. गा. ११-३८), वन्दनीय सिर्फ वे ही हैं, जो शुद्ध चान्दी तथा शुद्ध मोहर वाले सिक्के के समान द्रव्य और भाव उभयलिंग सम्पन्न हैं (आ.नि.गा. ११-३९), असंयम आदि दोषों के अनुमोदन द्वारा कर्मबन्ध होता है (आ.नि. ११-९)

केवल पदवी की अपेक्षा से है। इनके अतिरिक्त पहली दो श्रेणी की आत्माओं को प्रणाम किया जाता है, वह लौकिक दृष्टि का कार्य है।

नमस्कार किस भावना से करना चाहिए ?

परमात्माओं को नमस्कार ऐहिक या पारलौकिक पौद्गलिक सुख की प्राप्ति के लिए, मान, प्रतिष्ठा, सत्कार, सम्मान एवं यश कामना के लिए नहीं; केवल आत्मा को विशुद्ध करने के लिए—कर्म-मल को दूर करने के लिए ही करना चाहिए। धर्म-दृष्टि में आत्मशुद्धि का महत्त्व है, पौद्गलिक सुख का नहीं। इसलिए लक्ष्य पर चलना ही हित का परम साधन है। हां! वह पौद्गलिक सुख लक्ष्य के अनुगामीजनों को स्वयं प्राप्त हो जाता है। पर उन्हें इसे प्राप्त करने के लिए अलग प्रयास करने की कोई आवश्यकता नहीं। चूंकि पौद्गलिक सुख का हेतु पुण्य है। पुण्य का हेतु शुभ योग है। नमस्कार करना शुभ योग की प्रवृत्ति है। नमस्कार करने से पुण्य-बन्ध अपने आप हो जाता है इसलिए नमस्कार केवल आत्म-उज्ज्वलता के लिए ही करना चाहिए।

नमस्कार करने से हमें क्या फल मिलता है ?

नमस्कार करने का मुख्य फल आत्म-शुद्धि है और गौण फल पुण्य का बन्ध है। उक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंच जाते हैं कि अध्यात्म दृष्टि में नमस्कार करने का लक्ष्य और फल लौकिक दृष्टि से भिन्न है। इसलिए आत्मशुद्धि के लिए नमस्कार करते समय योग्य अयोग्य की परीक्षा करना नितान्त आवश्यक है। यह सब निर्णय हो जाने के पश्चात् हमें उन पूज्य आत्माओं के विषय में भी एक दृष्टि डालनी चाहिये, जिन्हें नमस्कार करने के लिए हम उत्सुक हैं।

अर्हत्

नमस्कार महामन्त्र के पांच पद हैं। पहले पद के अधिकारी अर्हत् हैं।

अरहंताणं, अरिहंताणं—प्राकृत में 'अर्ह' धातु के दोनों रूप बनते हैं। अरहइ, अरिहइ। अरहंताणं और अरिहंताणं ये दोनों 'अर्ह' धातु के शतृ प्रत्ययांत रूप हैं। अरहंत और अरिहंत—इन दोनों में कोई अर्थ-भेद नहीं है। व्याख्याकारों ने अरिहंत शब्द को संस्कृत की दृष्टि से देखकर उसमें अर्थ-भेद किया है। अरि+हन्त=शत्रु का हनन करने वाला है। यह अर्थ शब्द-साम्य के कारण किया

गया है। आवश्यक निर्युक्ति में यह अर्थ उपलब्ध है।^१ अर्हता का अर्थ इसके बाद किया गया है। इस अर्थ भेद के होने पर अरहंत और अरिहंत ये एक ही धातु के दो रूपों में निष्पन्न दो शब्द नहीं होते, किन्तु भिन्न-भिन्न अर्थ वाले दो शब्द बन जाते हैं।

अरिहन्त का एक अर्थ है शत्रु को मारने वाला। हमारा लक्ष्य आत्मशुद्धि है। हमारे नमस्कार के पात्र परमात्मा हैं। इनको हिंसक शब्द के द्वारा सम्बोधित करते हुए क्या हम विपरीत दिशा को नहीं जा रहे हैं? हमें चाहिए था कि हम उन्हें एक पुनीत शब्द से नमस्कार करते, पर ऐसा नहीं किया गया। क्या इसमें कोई गूढ़ तत्त्व है? हां, यह एक तत्त्व-समीक्षा है। वस्तुतः अरिहन्त शब्द हिंसकवृत्ति का सूचक नहीं। हिंसक वृत्ति होने का हेतु राग-द्वेष है। अरिहन्त राग-द्वेष रहित होते हैं। राग-द्वेष रहित वृत्ति से ही शत्रु का नाश कर सकते हैं। अच्छा होगा, यदि हम पहले शत्रु को समझ लें। हमारा शत्रु कोई मनुष्य नहीं, पशु नहीं, पक्षी नहीं, हमारी आत्मा ही हमारा शत्रु है। आत्मा की राग-द्वेष रूप दुष्प्रवृत्ति ही शत्रु है। मनुष्य एवं पशु-पक्षी को शत्रु मान लेना—मन की भ्रांति के सिवाय कुछ नहीं है। प्राणी प्राणी का कुछ नहीं बिगाड़ सकता। बिगाड़ करने वाली एक मात्र आत्मीय दुष्प्रवृत्ति ही है। इसी आशय से भगवान् ने फरमाया है—

अप्या मित्तममित्तं च दुपट्ठिअ सुपट्ठिओ ।

सदाचार में प्रवृत्त होने वाली आत्मा मित्र है; दुराचार में प्रवृत्त होने वाली आत्मा अमित्र है, शत्रु है। गौतम स्वामी ने केशी स्वामी को स्पष्ट शब्दों में कहा—एगप्या अजिए सत्तु कसाया इन्दियाणि य ।

अर्थात् अवश आत्मा, कषाय और इन्द्रिय विकार शत्रु हैं। नेमि राजर्षि ने इन्द्र को उत्तर देते हुए कहा—

अकारिणोत्थ बज्झन्ति, मुच्चइ कारणो जणो ।

हमारा अपराध नहीं करने वाले चोर, लुटेरों को हम दण्ड देते हैं और

१. आव. नि. गा. ११९, १२०—

इंदियविसयकसाये परीसहे वेयणाओ उवसग्गे ।

एए अरिणो हंता, अरिहंता तेण वुच्चंति ॥

अट्ठाविहं वि य कम्मं, अरिभूअं होइ सव्वजीवाणं ।

तं कम्ममरिं हंता, अरिहंता तेण वुच्चंति ॥

हमारी सदगुण राशि को लूटने वाले क्रोध आदि अवगुणों को दण्डित करने में हम उपेक्षा रखते हैं।

इस विवेक-ज्ञान से हम असली शत्रु को पकड़ सकते हैं। अरिहन्त इसीलिए हमारे उपास्य हैं कि उन्होंने सब शत्रुओं का वध कर डाला। अरिहन्त शब्द हमें सिखाता है कि शत्रु को शत्रु समझो, मित्र को नहीं। तत्त्व को पहचानने के बाद अरिहन्त शब्द की पवित्रता में सन्देह नहीं हो सकता।

पहले पद का अर्हत् शब्द तीर्थंकर का बोधक है। तीर्थंकर धर्म के प्रवर्तक एवं चार तीर्थ—साधु-साध्वी श्रावक-श्राविका के संस्थापक होते हैं। आठ कर्मों में से चार घाति कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त करते हैं। चार कर्मरूपी शत्रुओं का क्षय करने के कारण वे अरिहन्त कहलाते हैं। दूसरे शब्दों में हम उन्हें सशरीरी परमात्मा भी कह सकते हैं। वे उसी जन्म में शेष आयुष्य आदि चार कर्मों का क्षय कर मोक्ष पा लेते हैं।

सिद्ध

दूसरे पद में सिद्ध हैं। सब कर्मों का नाश कर जो मुक्त हो जाते हैं—वे सिद्ध कहलाते हैं। इन्हें साधन की कोई आवश्यकता नहीं होती। सिद्ध शब्द मुक्तावस्था का द्योतक है। मुक्तावस्था अनन्त, अपुनरावृत्त एवं अजर-अमर है।

आचार्य

तीसरे पद में आचार्य हैं। 'आचारकुशलत्वादाचार्यः' आचार में कुशल होने से आचार्य कहलाते हैं। आचार साधु-वृत्ति का आचरण है। साधु भी आचार में कुशल होते हैं। पर आचार्य की विलक्षणता है। आचार्य स्वयं सावधान रहते हैं और दूसरे साधुओं को सचेत रखते हैं। उनका अनुशासन आचार की शिक्षा एवं दीक्षा से परिपूर्ण होता है। अर्हत् की अनुपस्थिति में उनका सब भार आचार्य के कन्धों पर ही होता है। अतएव आचार्य धर्म-धुरन्धर, धर्म-सार्थवाह आदि शब्दों से सम्बोधित किये जाते हैं।

उपाध्याय

चौथे पद के अधिष्ठाता उपाध्याय हैं। आचार्य के द्वारा उनकी उस पद पर नियुक्ति होती है। अध्ययन-अध्यापन का काम इनके अधिकार में होता है।

साधु

पांचवें पद के अधिनायक साधु हैं। 'साध्नोति मोक्षं स्व-पर कार्याणि वा साधुः' मोक्ष एवं स्व-पर के कार्यों को साधने वाले साधु कहलाते हैं। पांच^१ महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह को विधिवत पालने वाले व्यक्ति ही साधु होते हैं। साधु जन्म-सिद्ध या जाति-सिद्ध नहीं हो सकते। पांच महाव्रत के रक्षा स्वरूप आठ नियम भी उनके लिए अनिवार्य हैं। वे हैं पांच समिति और तीन गुप्ति। समिति^२ का अर्थ है सम्यक् प्रवृत्ति और गुप्ति^३ का अर्थ है—निवृत्ति। समिति पांच हैं—

१. ईर्या—देखकर चलना।
२. भाषा—पापरहित बोलना।
३. एषणा—दोषरहित आहार लेना।
४. आदान-निक्षेप—वस्त्र आदि को सावधानी से लेना और रखना।
५. उत्सर्ग—मल, मूत्र, श्लेष्म आदि का जीव रहित भूमि में उत्सर्जन, त्याग करना।

गुप्ति तीन हैं।^४ मन, वचन और शरीर का निग्रह करना क्रमशः मनोगुप्ति, वचन गुप्ति और काय गुप्ति है। महाव्रत, समिति और गुप्ति—ये संख्या-बद्ध होने से तेरह होते हैं। इस प्रकार उक्त पांच नियम और आठ उपनियम साधुओं के लिए अवश्य पालनीय हैं।

नमस्कार महामंत्र का उपसंहार करते हुए हमें फिर उसी बात को स्मृति में लाना चाहिये कि इस मंत्र में नमस्कार करने योग्य सब आत्माओं का समावेश है। इसका स्मरण करने से आत्मा का कर्म-मल दूर होता है, आत्मा पवित्र बन जाती है। यह मंगल का बीज, समस्त विघ्नसमूह का नाशक, अविकार और सत्पथ की ओर अग्रसर करनेवाला महामंत्र है।

१. अहिंस सच्चं च अतेणगं च, ततो अबंभं अपरिगहं च।

परिवज्जिया पंच महव्वयाइं, चरिज्ज धम्मं जिणदेसिअं विउ ॥ उत्तराध्ययन

२. संयमानुकूला प्रवृत्तिः समितिः—जैन सिद्धान्त दीपिका।

३. सम्यग् योगनिग्रहो गुप्तिः—जैन सिद्धान्त दीपिका।

४. उत्तराध्ययन २४/२६—

एयाओ पंचसमिईओ, चरणस्स पवत्तणे।

गुप्ति नियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसो ॥

तिक्खुत्तो पाठ

गुरु वन्दन विधि

मूल पाठ

तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि वन्दामि नमंसामि सक्कारेमि
सम्माणेमि कल्लाणं मङ्गलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि मत्थएण वंदामि ।

छाया

त्रिकृत्वः, आदक्षिण-प्रदक्षिणं करोमि, वंदे, नमस्यामि, सत्करोमि,
सन्मानयामि, कल्याणं, मंगलं, दैवतं, चैत्यं, पर्युपासे, मस्तकेन वंदे ।

शब्दार्थ

तिक्खुत्तो—तीन बार

आयाहिणं—दाई से बाई ओर

पयाहिणं—प्रदक्षिणा

करेमि—करता हूं।

वंदामि—वंदना करता हूं।

नमंसामि—नमस्कार करता हूं।

सक्कारेमि—सत्कार करता हूं।

सम्माणेमि—सम्मान करता हूं

कल्लाणं—कल्याण ।

मंगलं—मंगल ।

देवयं—धर्मदेव !

चेइयं^१—चैत्य—ज्ञानवान्, चित्ताह्लादक

१. सुप्रशस्त मनोहेतुत्वात् ।

पञ्जुवासामि—गुरुदेव ! मैं आपकी पर्युपासना—सेवा करता हूँ।
मत्थएण-वंदामि—और मैं आपको मस्तक से वन्दना करता हूँ।

अर्थ

मैं दक्षिणी तरफ से आरम्भ कर, तीन बार प्रदक्षिणा देते हुए गुरुदेव को वंदना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ, सत्कार करता हूँ, सम्मान करता हूँ। ये गुरु महाराज कल्याण हैं, मंगल हैं; धर्मदेव हैं, ज्ञानवन्त हैं, चित्त को प्रसन्न करने वाले हैं। ऐसे गुरुदेव की मैं सेवा करता हूँ, मस्तक झुका कर वन्दना करता हूँ।

विवेचन

यह गुरु को वन्दना करने की विधि है। गुरु को वन्दना करते समय किस प्रकार नम्र होना चाहिए, उसका उपदेश है। नम्रता अहंकार की प्रतिपक्षिणी है। नम्रता से गुरु के गुणों के प्रति ध्यान आकृष्ट होता है और उनका अनुसरण करने की भावना प्रबल हो उठती है। विनय एक महान् गुण है, उसका सम्बन्ध मन, वचन और शरीर—इन तीनों से है। अतएव वंदन-सूत्र में इन तीनों को सरल करने का विधान है।

तीन बार दाहिनी ओर से दोनों हाथों को जोड़ कर प्रदक्षिणा करना—यह शरीर की नम्रता है।

गुरुदेव ! मैं आपको वन्दना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ, सत्कार करता हूँ; सम्मान करता हूँ, यह वाचिक विनय है।

गुरुदेव ! आप कल्याण हैं—श्रेयस के साधन हैं। कल्याण का अर्थ प्रातःस्मरणीय भी होता है। जैसे अमर कोष १/४/२५ में भानुजी दीक्षित ने लिखा है—कल्ये प्रातःकाले अण्यते भण्यते इति कल्याणम्।

अर्थात् जो प्रातःकाल पुकारा जाता है; वह प्रातःस्मरणीय है। गुरुदेव का नाम प्रातःकाल उठते ही अगम्य हृदय की सद्भावनाओं के साथ-साथ स्मृति में आ उतरता है अतः गुरुदेव प्रातःस्मरणीय हैं ही। सुप्रसिद्ध आगम टीकाकारों ने कल्याण का अर्थ 'नीरोगता प्रदान करनेवाला' किया है। जैसे—

कल्पः अत्यन्त नीरुक्तया मोक्षः,

तमाणयति प्रापयति इति कल्याणः मुक्तिहेतौ।

इसका आशय यह है कि कल्प यानी रोगमुक्त स्थान मोक्ष है क्योंकि उसमें ही आत्मा पूर्णरूपेण कर्मरोग से मुक्त रह सकती है। उस नीरोगदशा—मोक्ष

को प्राप्त करानेवाला कल्याण कहलाता है। गुरु मोक्ष-पथ के दर्शक हैं अतः उनको कल्याण कहना उनके कार्य के अनुरूप है।

गुरुदेव! आप मंगल हैं। मंगल शब्द भी बाहरी रूप से तो कल्याण से मिलता जुलता सा है किन्तु इसका आंतरिक तत्त्व कुछ और है। सांसारिक जनता द्रव्य मंगल—दूर्वा, कुंकुम; अथवा सांसारिक देवता—इन अवास्तविक मंगलों के चक्र में फंसकर वास्तविक मंगल—जो अध्यात्म मंगल है—को भूल सी गई है। अतः उस भूल को सुधारने के लिए, आत्म-जागरण में लीन रहने के लिए गुरुदेव के साथ मंगल शब्द जोड़ा गया है। इसका अर्थ यह है कि गुरुदेव! मुझे संसारचक्र—जन्ममरण-परम्परा से छुड़ाने वाले आप ही हैं अतः मेरे लिए आप ही वास्तविक मंगल हैं। जैसा कि मंगल शब्द की व्युत्पत्ति बतलाते हुए आचार्य हरिभद्र ने लिखा है—

मां गालयति भवादिति मंगलम्, संसारादपनयति ।

जो मुझे, मेरी आत्मा को संसार के बंधन से मुक्त करता है; वह मंगल है। यह विशेषण गुरु के साथ समुचित रूप से घटता है।

गुरुदेव! आप धर्मदेव हैं। जैन दर्शन भोगी-विलासी देवताओं की उपासना करना नहीं सिखाता। अध्यात्म-मार्ग उन्हीं देवताओं की आराधना करना सिखाता है; जो 'दिव्यन्ति स्वरूपे देवाः' आत्मस्वरूप में दैदीप्यमान हैं, जिनकी आत्मा में विशुद्ध चारित्र की लौ जगी हुई है।

गुरु के लिए देव शब्द का प्रयोग करना अत्युक्ति नहीं। गुरु का स्थान तो देवता से कहीं और अधिक ऊंचा है। गुरु को हम नमस्कार मंहामन्त्र में परमेष्ठी या परमात्मा कहते हैं। क्या 'देवता' का परमात्मा से भी अधिक महत्त्व है? एक बात और भी आश्चर्य की है कि जब आचार्य को तीर्थकर के समान भगवान् या पूज्य परमेश्वर कहा जाता है तब बहुत से जैनी भी असमंजस में पड़ जाते हैं परन्तु गम्भीरता से सोचा जाए तो इसमें भी विचार करने जैसी कोई बात नहीं है। सामायिक-ग्रहण के समय गुरु को 'भंते' शब्द से सम्बोधित किया जाता है, जिसका अर्थ है 'भगवन्'। इसके अतिरिक्त आचार्यों को 'अजिणा जिणसंकासा' जिन नहीं किन्तु जिन के समान कहा गया है। वैदिक धर्म में भी संसार से उदासीन महात्मा को दूसरा परमेश्वर कहा है। जैसे—

कान्ताकाञ्चनचक्रेषु भ्राम्यति भुवनत्रयम् ।

तासु तेषु विरक्तो यो, द्वितीयः परमेश्वरः ॥

अतः उपरोक्त शब्दों से आचार्य को सम्बोधित करना सर्वथा उचित है।

गुरुदेव! आप चैत्य हैं अर्थात् ज्ञानसहित हैं। चैत्य शब्द अनेकार्थक है। इस शब्द की टीका करते हुए आचार्यों ने भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं, जैसे—

चैत्य—चित्त को आह्लादित^१ करने वाले।

चैत्य—मन के सुप्रशस्त^२ होने के हेतु।

कई आचार्य चैत्य का अर्थ प्रतिमा भी करते हैं, परन्तु उसका गुरुवन्दन के साथ मेल नहीं बैठता।

इस प्रकार की हृदयवर्तिनी शुद्ध भावना मानसिक विनय है।

आप गुण सम्पन्न धर्ममूर्ति हैं। अतएव मैं आपके तपःपूत चरणों में सबसे उत्तम अंग सिर को झुकाकर प्रणाम करता हूँ।

कार्य कारण के अनुरूप ही करना चाहिये। यही औचित्य और सद्विवेक है कि गुण-सम्पन्न आत्माओं का विशाल गुण-गौरव हमें वन्दना की ओर प्रेरित कर सके, इसलिए कि नमस्कार जीवन की एक अमूल्य निधि है।

१. चित्ताह्लादकत्वाद् वा चैत्यः—ठाणं. ४, उ. २—अभयदेवसूरि

२. चैत्यं सुप्रशस्तमनोहेतुत्वात्—राजप्रश्नीय सूर्याभदेवताधिकार।

सामाडय पडिन्ना
सामायिक-प्रतिज्ञा
(सामायिक विधि)

मूल पाठ

करेमि भन्ते! सामाडयं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जाव नियमं (मुहुत्तं एगं) पज्जुवासामि दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा तस्स भन्ते! पडिक्कमामि निन्दामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

छाया

करोमि भगवन्! सामायिकं सावद्यं योगं प्रत्याख्यामि यावन्नियमं (मुहूर्त्तम् एकम्) पर्युपासे द्विविधं त्रिविधेन न करोमि न कारयामि मनसा वचसा कायेन। तस्य भगवन्! प्रतिक्रामामि निन्दामि गहं आत्मानं व्युत्सृजामि।

शब्दार्थ

करेमि—करता हूं।

भन्ते!—हे भगवन्!

सामाडयं—सामायिक

सावज्जं जोगं पच्चक्खामि—सावद्य योग का प्रत्याख्यान करता हूं।

जाव नियमं—सामायिक का जितना (एक मुहूर्त्त तक) काल है।

पज्जुवासामि—पालन करता हूं।

दुविहं तिविहेणं—दो करण तीन योग से

न करेमि न कारवेमि—न करूंगा, न कराऊंगा।

मणसा वयसा कायसा—मन से वाणी से शरीर से

तस्स भन्ते!—हे भगवन्! पूर्वकृत सावद्य योग से

पडिक्कमामि—निवृत्त होता हूं।

निन्दामि—निन्दा करता हूँ।

गरिहामि—गर्हा करता हूँ।

अप्याणं वोसिरामि—आत्मा को पाप से दूर करता हूँ।

अर्थ

सामायिक प्रतिज्ञा

हे भगवन्! मैं समता रूप सामायिक व्रत ग्रहण करता हूँ, पापमय कार्यों का त्याग करता हूँ। एक मुहूर्त्त (४८ मिनिट) तक मैं पापमय कार्यों का, दो करण तीन योग से (न करूँ, न कराऊँ, मन से, वचन से, काया से) त्याग करता हूँ। हे भगवन्! मैं पूर्व कृत पापों से भी निवृत्त होता हूँ। उनकी निन्दा करता हूँ, उनसे घृणा करता हूँ और उनसे दूर होता हूँ।

विवेचन

सामायिक

सामायिक शब्द जैन जगत् में प्रसिद्ध है। प्रायः धार्मिक स्त्री-पुरुषों में सामायिक करने की प्रबल उत्कण्ठा रहती है। सामायिक दिनचर्या का एक प्रधान अंग है। बहुत से गृहस्थ दिन की पहल सामायिक से ही करते हैं। सामायिक वस्तुतः अभ्यास के उपयुक्त है। इससे जीवन-वृत्तियां शुद्ध बनती हैं। संयमी-जीवन का अनुभव होता है। आत्मा को शुद्ध, सरल और उन्नत होने में असाधारण प्रेरणा मिलती है।

सामायिक क्या है?

एक मुहूर्त्त तक हिंसा, असत्य, चौर्य, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि पापकारी प्रवृत्तियों को त्याग देने का नाम सामायिक है। जिस प्रकार इन दुष्प्रवृत्तियों का सेवन स्वयं को मन, वचन एवं शरीर से त्यागना पड़ता है, उसी प्रकार दूसरों से मनसा, वाचा, कर्मणा, पापमय कार्य न कराऊँ, यह भी प्रत्याख्यान करना पड़ता है।^१ सामायिक आत्म-संयम है, अशुभ आचरणों की निवृत्ति है।

१. सामायिक का प्रत्याख्यान छह कोटि से करने का विधान है और उसका पालन करने की परम्परा आठ कोटि से है। यदि सामायिक व्रत का आठ कोटि से प्रत्याख्यान किया जाए तो भी कोई आपत्ति नहीं है। जैसे—सावध कार्य न करूँ मन से वचन से काया से, न कराऊँ मन से वचन से काया से, न अनुमोदूँ वचन से काया से।

सामायिक से लाभ

सामायिक से जो लाभ होता है वह सामायिक शब्द में ही अवतरित है। जिस अनुष्ठान से समता का लाभ मिले वह सामायिक है। सामायिक करने से गृहस्थ साधु की तरह संयमी बन जाता है। साधु का संयम पूर्ण होता है और गृहस्थ का संयम आंशिक फिर भी 'समुद्रवत्तडागः' के अनुसार सामायिक-व्रत गृहस्थ को साधुवृत्ति का उपमेय बना देता है। सामायिक का लाभ बतलाते हुए प्राचीन आचार्यों ने लिखा है—

गृही त्रसस्थावरजन्तुराशिषु, सदैव तप्तायसगोलकोपमाः ।

सामायिकावस्थित एष निश्चितं, मुहूर्त्तमात्रं भवतीह तत्सखः ॥

गृहस्थ त्रस और स्थावर दोनों प्रकार के प्राणियों के लिए अग्नि-तप्त लोहे के गोले के समान है। चूंकि गृहस्थ सांसारिक प्रवृत्तियों में फंसे रहने के कारण सब प्रकार के प्राणियों की हिंसा करने में तत्पर रहता है। हिंसा-तत्पर होने के कारण निस्सन्देह सब प्राणियों का शत्रु है। वही गृहस्थ सामायिकस्थ होते ही एक मुहूर्त्त के लिए सब प्राणियों का सखा बन जाता है, इससे बढ़कर और क्या लाभ हो सकता है? यह निरारम्भ वृत्ति की उपासना का ही फल है कि एक गृहस्थ भी सबको अभय दान दे देता है और सबका मित्र बन जाता है। इसके अतिरिक्त सामायिक से पूर्व संचित कर्मों का नाश होता है और आत्मा उज्ज्वल बनती है।

सामायिक अभ्यास है

सामायिक साधना है, सिद्धि नहीं। सामायिक का पालन जैसे उपयोगी है, वैसे ही उसका असली स्वरूप जानना भी उपयोगी है। सामायिक को स्वीकार कर क्या करना चाहिये? यह अवश्य ज्ञातव्य है। अन्यथा स्वयं को भी सामायिक के महत्त्व का भान नहीं होगा और आसपास के पड़ोसी भी उसे उपहास की सामग्री बना देंगे। शून्य-चित्त की क्रिया तो जैसी होती है वैसी ही होती है। सामायिक आत्मा को सावधान करने का साधन है। अतः इसका अनुशीलन साधकों को पूरी सावधानी से करना चाहिए। सामायिक के उचित कर्तव्यों का उल्लेख करते हुए शास्त्रकारों ने लिखा है—

सामायिकस्थः प्रवरागमार्थं, पृच्छेन् महात्माचरितं स्मरेच्च ।

आलस्यनिद्राविकथादिदोषान्, विवर्जयेच्छुद्धमना दयालुः ॥

सामायिक में गृहस्थ को गुरु के समक्ष आगम का अर्थ पूछना चाहिए। उस पर मनन करना चाहिये। मनुष्य क्यों दुःखी बनता है? सुख की प्राप्ति कैसे हो

सकती है? अनित्य चिन्तन, एकत्व चिन्तन—प्रमुख बारह भावनाओं का चिन्तन करना चाहिये। महापुरुषों के आचरणों का स्मरण करना चाहिये, जिससे सामायिक का लक्ष्य अटल रह सके। सामायिक में आलस्य, विकथा, निद्रा आदि दोष वर्जनीय हैं।

सामायिक में मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियों पर संयम होना आवश्यक है। बिना देखे चलना-फिरना और अनुचित ढंग से बैठना आदि कायिक दोष हैं। बुरे वचन बोलना, बिना विचारे बोलना, हिंसाभिहित बोलना, कलहोत्पादक वाणी बोलना, विकथा करना, आने जाने का आदेश देना आदि वाचिक दोष हैं। कोप करना, यश की अभिलाषा करना, अहंकार करना आदि मानसिक दोष हैं।

सबका सारांश यही है कि सामायिक को स्वीकार कर उसके पालन करने में यत्नशील रहना चाहिये। केवल समय की पूर्ति और प्रथा का अनुसरण मात्र ही आदेय नहीं होना चाहिए।

सामायिक में आत्म-ऋजुता

धर्म विनय-प्रधान है। सामायिक व्रत स्वीकार करते समय श्रद्धालु गृहस्थ गुरु से आदेश लेता है। गुरु साक्षी-पूर्वक सामायिक-प्रतिज्ञा-पाठ का उच्चारण करता है। आत्मा को निःशल्य बनाने के लिए वह बोलता है—‘हे भगवन्! आज से पहले मैंने जो कुछ पापों का आचरण किया है उनसे मैं निवृत्त होता हूँ। आत्म-साक्षी से उनकी मैं निन्दा करता हूँ। गुरुदेव! आपकी साक्षी से उस पापाचरण की गर्हा करता हूँ और वर्तमान में दुष्प्रवृत्तिमय आत्मा को त्यागता हूँ।’

इस प्रकार अतीतकालीन सावद्याचार की निन्दा और वर्तमान एवं भविष्य में उसका प्रत्याख्यान करने वाले की आत्मा में सरलता का स्रोत उमड़ पड़ता है। यह कितनी महानता और कितना औदार्य है। मानव-प्रकृति दूसरों के अवगुण देखने में ही तत्पर रहती है, दूसरों की निन्दा में ही मनुष्य संतुष्ट रहता है। पर सामायिक का अभ्यास आत्मा के अवगुणों को देखना सिखाता है। पर-निन्दा से बचने के लिये आत्म-निन्दा का सत्पथ दिखलाता है और भविष्य को उज्ज्वल और साधनामय बनाता है। आत्म-सरलता से सामायिक का घनिष्ठ सम्बन्ध है।



सामायिक के प्रति आशंका से क्यों ?

बहुत से लोग इस आशंका से सामायिक करने से कतराते हैं कि क्या करूं, मन तो स्थिर रहता नहीं, फिर केवल सामायिक करने से क्या लाभ है ?

इसके बारे में सूत्र रूप से तो पहले ही कहा जा चुका है कि सामायिक अभ्यास है—साधना है, साध्य नहीं। अध्यात्म-साधक के सम्मुख पूर्ण आत्म-विकास—मोक्ष साध्य होता है। साध्य ठीक है तो फिर उसकी साधना में कहीं खलना हो जाए, उससे घबराने की आवश्यकता नहीं। खलना के भय से साधना को छोड़ देना वज्र-भूल है। घाटे के भय से व्यापारी-वर्ग व्यापार करना छोड़ दे और फसल खराब होने की आशंका से कृषक-वर्ग बीज बोना छोड़ दे तो क्या वे अपना जीवन निर्वाह कर सकते हैं ?

आत्म-साधक भी साधना में हो जाने वाली कुछ त्रुटियों से घबराकर समूची साधना को ठुकरा दे, यह उचित नहीं। इसके विपरीत उसे उन त्रुटियों पर विजय पाने की चेष्टा करते रहना चाहिए। मान लो कि सामायिक में मन स्थिर न रहा तो उसका पूर्ण लाभ नहीं मिला पर वह बिल्कुल बेकार तो नहीं हुई।

सामायिक में शरीर, वचन और मन—इन तीनों की पापमय प्रवृत्ति करने का त्याग होता है। मानसिक दोष लगने से सामायिक का भंग नहीं होता, किन्तु उसमें दोष लगता है। इसके अतिरिक्त शरीर और वाणी पर नियन्त्रण रहता है, उनका पापमय व्यापार नहीं होता, यह भी कोई कम बात नहीं है। विवेकी मनुष्य पूरा लाभ न मिलने की दशा में अधूरा लाभ मिले, उसे छोड़ता नहीं। हां, साधक का लक्ष्य सामायिक में मानसिक दोष सेवन का नहीं होना चाहिए। यदि दोष लग जाए तो उसकी विशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त कर ले किन्तु इसके बहाने सामायिक करना न छोड़े; क्योंकि साधना करते-करते मन पर विजय होगी तथा पूर्ण विशुद्धि का द्वार भी खुल जायेगा। और संयोगवशात् किसी का मन आजीवन भी वश में न हो, तो भी वह शरीर और वचन को पाप कर्मों से अलग रखने वाला एवं मानस-विजय की साधना में लगा रहने वाला घाटे में नहीं रहता।

इरियावहियं सुत्तं

(ईर्यापथिक सूत्र)

मूल पाठ

इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए विराहणाए गमणागमणे
पाणक्कमणे बीअक्कमणे हरियक्कमणे ओसा-उत्तिंग-पणग-दग-मट्टी
मक्कड़ा-संताणा संक्रमणे जे मे जीवा विराहिया एग्गिदिया, बेइंदिया,
तेइंदिया, चउरिंदिया, पंचिंदिया, अभिहया वत्तिया लेसिया संघाइया
संघट्टिया परियाविया किलामिया उहविया ठाणाओ ठाणं संकामिया
जीवियाओ ववरोविया तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

छाया

इच्छामि प्रतिक्रमितुं ईर्यापथिक्यां विराधनायां गमनागमने प्राणाक्रमणे
बीजाक्रमणे हरिताक्रमणे अवश्यायोत्तिंगपनकोदकमृत्तिकामर्कटसन्तानाः
(तेषाम्) संक्रमणे ये मया जीवाः विराधिताः एकेन्द्रियाः द्वीन्द्रियाः त्रीन्द्रियाः
चतुरिन्द्रियाः पंचेन्द्रियाः अभिहताः वर्तिताः श्लेषिताः सङ्घातिताः सङ्घट्टिताः
परितापिताः क्लामिताः अवद्राविताः स्थानात् स्थानं संक्रामिताः जीवितात्
व्यपरोपिताः तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम् ।

शब्दार्थ

इच्छामि—मैं इच्छा करता हूँ ।

पडिक्कमिउं—निवृत्त होने की, बचने की ।

इरियावहियाए—मार्ग पर चलने आदि से होने वाली ।

विराहणाए—विराधना से ।

गमणागमणे—जाने आने में

पाणक्कमणे—किसी प्राणी को दबाकर ।

बीअक्कमणे—बीज को दबाकर ।
 हरियक्कमणे—वनस्पति को दबाकर ।
 ओसा—ओस
 उत्तिंग—कीड़ियों के बिल,
 पणग—पांच वर्ण की काई,
 दग—पानी,
 मट्टी—मिट्टी
 मक्कडा संताणा—मकड़ी के जाल
 संकमणे—आक्रमण हुआ हो
 जे मे जीवा—जो मेरे से जीवों की
 विराहिया—विराधना हुई हो—
 एगिंदिया—एक इन्द्रिय वाले
 बेइंदिया—दो इन्द्रिय वाले
 तेइंदिया—तीन इन्द्रिय वाले—
 चउरिंदिया—चार इन्द्रिय वाले
 पंचिंदिया—पांच इन्द्रिय वाले
 अभिहया—सम्मुख आने से चोट पहुंचाई हो ।
 वत्तिया—धूल आदि से ढके हों
 लेसिया—भूमि पर मसले हों
 संघाइया—इकट्टे किये हों
 संघट्टिया—छुए हों
 परियाविया—कष्ट पहुंचाया हों
 किलामिया—मृत-तुल्य किये हों
 उद्विया—भयभीत किये हों
 ठाणाओ ठाणं संकामिया—एक स्थान से दूसरे स्थान में अयत्ना से रखे
 हों
 जीवियाओ ववरोविया—प्राण से रहित किये हों
 तस्स मिच्छामि दुक्कडं—उसका निष्फल हो मेरे लिए पाप ।

भावार्थ

ईर्यापथिक सूत्र

हे भगवन्! रास्ते में चलते समय जो मेरे से जीव हिंसा हुई हो, उस हिंसा से होने वाले अतिचार से निवृत्त होने की मैं इच्छा करता हूँ। मार्ग में आते जाते समय भूतकाल में मैंने यदि किसी जीव को दबाया हो, कुचल डाला हो, किसी जीव सहित बीज, हरी वनस्पति, ओस की बूंदें, चींटियों के बिल, पांच वर्ण की फूलन, जीव सहित पानी, जीव सहित मिट्टी तथा मकड़ियों के जाल आदि को दबाया हो, कुचल डाला हो, जीव हिंसा की हो। किसी एक इन्द्रिय वाले, दो इन्द्रिय वाले, तीन इन्द्रिय वाले, चार इन्द्रिय वाले, पांच इन्द्रिय वाले जीव को चोट पहुंचाई हो, उनको धूलि आदि से ढका हो, जमीन पर उनको आपस में मसल कर, इकट्ठा कर, उनका ढेर—समूह किया हो, उनको कष्ट पहुंचाया हो, उनको मृतवत् कर डाला हो, उनको भयभीत किया हो, उनको एक स्थान से हटाकर दूसरे स्थान में अयत्नापूर्वक रखकर उनका जीवन नष्ट किया हो। इस प्रकार जान या अनजान में जो भी हिंसा मेरे से हुई हो, पाप कर्म बंधा हो तो उसके लिए मैं हृदय से पश्चात्ताप करता हूँ; ताकि उस पाप का फल निष्फल हो सके।

विश्व-मैत्री

ईर्यापथिक सूत्र में समता का हृदयग्राही उपदेश है। इसके चिन्तन से हृदय अहिंसा का उपासक बन जाता है। यह वैषम्य के साम्राज्य को उखाड़ फेंकने का अनुपम साधन है। जनसमूह ने मनुष्य के सुखों का ही महत्त्व समझ रखा है। मनुष्य के लिए चाहे कितना ही अनर्थ क्यों न कर लिया जाए, वह क्षम्य है। कुछ विचारकों ने चलते-फिरते प्राणियों के प्रति अहिंसा का संकेत किया है परन्तु पृथ्वी, जल, वनस्पति आदि मूक जीवों के प्रति सबने उदासीनता दिखाई है। इसका परिणाम यह हुआ कि लोगों ने इनका वध करना सहज एवं प्रकृति-सिद्ध मान लिया। गृहस्थ इनकी हिंसा से सर्वथा विलग नहीं रह सकता—यह निश्चित है, फिर भी बिल्कुल उपेक्षा रखना अनुचित है। इनकी हिंसा भी हिंसा है। गृहस्थ को चाहिये कि वह इनकी हिंसा का संकोच करे। प्रयोजन से गृहस्थ को अशक्य कोटि की हिंसा करनी पड़े किन्तु वह अनर्थ हिंसा से तो दूर रहने की कोशिश करे। गृहस्थ के लिए ईर्यापथिक सूत्र का चिन्तन इसीलिए उपयोगी है कि वह एकेन्द्रिय जीवों की अनर्थ हिंसा करने का प्रत्याख्यान करता है और अर्थ

हिंसा पर नियन्त्रण करता है। यह समता का बीज है और जगन्मैत्री का अनूठा आदर्श है।

मिच्छामि दुक्कडम्

‘मिच्छा मि दुक्कडम्’ में ‘मिथ्या मे दुष्कृतम्’ ये तीन शब्द हैं। यह साधारण दोषों का प्रायश्चित्त है। इसका अर्थ है—मेरे पाप मिथ्या हों, निष्फल हों। ‘मिथ्या मे दुष्कृतम्’ केवल वाङ्मय (वचन) मात्र ही नहीं है। यह पाप शुद्धि के लिए रहस्य भरा मन्त्र है। ‘मिथ्या मे दुष्कृतम्’ में हृदय की शुद्धि भरी पड़ी है। यद्यपि इसका व्यवहार साधारण है तथापि यह एक बड़ी महत्त्व की वस्तु है।

मनुष्यों में सबसे बड़ा यह अवगुण होता है कि वे अपने दोष को दोष नहीं समझते। कोई विरल आदमी अपने दोष को दोष जान लेता है; तो भी वह दम्भ भरे हृदय से अपने दोष को प्रकट नहीं करता। वे मनुष्य विरले ही होते हैं जो अपने दोष को दोष जान लेते हैं, सरल हृदय से उसे प्रकट कर देते हैं और उसके प्रायश्चित्त स्वरूप ‘मिथ्या मे दुष्कृतम्’ को सरल और शुद्ध भावना से स्वीकार करते हैं।

‘मिथ्या मे दुष्कृतम्’ कहना महान् आत्मा का काम है, सरल हृदय का काम है। कुटिल हृदय ‘मिथ्या मे दुष्कृतम्’ कदापि नहीं कह सकता। प्रथा के रूप में या लोक दिखाऊ यदि कह भी दे तो वह शब्दालाप मात्र होगा। ‘मिथ्या मे दुष्कृतम्’ वस्तुतः निजी दोषों के प्रति पश्चात्ताप की भावना से कहना चाहिए। आत्म-दोषों को देखते हुए और उनके प्रति घृणा करते हुए कहना चाहिए। उसी दशा में यह दोषों से मुक्ति पाने में महान् सहायक हो सकता है और एक महामंत्र का काम कर सकता है।

काउस्सग्ग पडिन्ना

कायोत्सर्ग-प्रतिज्ञा

मूल पाठ

तस्स उत्तरीकरणेणं पायच्छित्तकरणेणं विसोहिकरणेणं विसल्ली-
करणेणं पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं अन्नत्थ
ऊससिएणं नीससिएणं खासिएणं छीएणं जंभाइएणं उड्डुएणं वायनिसग्गेणं
भमलीए पित्तमुच्छाए सुहुमेहिं अंगसंचालेहिं सुहुमेहिं खेलसंचालेहिं सुहुमेहिं
दिट्ठिसंचालेहिं एवमाइएहिं आगारेहिं अभग्गो अविराहिओ हुज्ज मे
काउस्सग्गो जाव अरहंताणं भगवंताणं नमोक्कारेणं न पारेमि ताव कायं
ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि ।

छाया

तस्य उत्तरीकरणेन प्रायश्चित्तकरणेन विशोधिकरणेन विशल्यीकरणेन
पापानां कर्मणां निर्घातनार्थाय तिष्ठामि कायोत्सर्गम् अन्यत्र उच्छ्वसितेन
निःश्वसितेन कासितेन क्षतेन जृम्भितेन उद्गारितेन वातनिसर्गेण भ्रमर्या
पित्तमूर्च्छया सूक्ष्मैः अङ्गसञ्चालैः सूक्ष्मैः श्लेष्मसञ्चालैः सूक्ष्मैः दृष्टिसञ्चालैः
एवमादिभिः आकारैः अभग्नः अविराधितः भवतु मम कायोत्सर्गः यावद् अर्हतां
भगवतां नमस्कारेण न पारयामि तावत् कायं स्थानेन मौनेन ध्यानेन आत्मानं
व्युत्सृजामि ।

शब्दार्थ

तस्स—उसको

उत्तरीकरणेणं—श्रेष्ठ, उत्कृष्ट बनाने के निमित्त

पायच्छित्तकरणेणं—प्रायश्चित्त—आलोचना करने के लिए

विसोहिकरणेणं—विशेष रूप से शुद्धि करने के लिए

विसल्लीकरणेणं—निःशल्य बनने के लिए
 पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए—पाप-कर्मों का नाश करने के लिए
 ठामि काउस्सगं—करता हूं कायोत्सर्ग—ध्यान
 अन्नत्थ—इन आगारों के बिना
 ऊससिएणं नीससिएणं—उच्छ्वास निःश्वास
 खासिएणं—खांसी
 छीएणं—छींक
 जंभाइएणं—जम्हाई
 उड्डुएणं—डकार
 वायनिसगोणं—अधोवायु
 भमलीए—चक्कर
 पित्तमुच्छाए—पित्तविकारजनित मूच्छा
 सुहुमेहिं अङ्गसञ्चालेहिं—सूक्ष्म, थोड़ा अंग-संचार
 सुहुमेहिं खेलसंचालेहिं—सूक्ष्म श्लेष्म, कफ-संचार
 सुहुमेहिं दिट्ठिसंचालेहिं—सूक्ष्म दृष्टिसंचार
 एवमाइएहिं आगारेहिं—इत्यादि आगारों से
 अभग्गो—भंग नहीं
 अविराहिओ—अविराधित, अखण्डित
 हुज्ज मे काउस्सगो—हो मेरा ध्यान-कायोत्सर्ग
 जाव—जब तक
 अरहंताणं भगवंताणं—अर्हत् भगवान् को
 नमोक्कारेणं—नमस्कार करके
 न पारेमि—न पाऊं, ध्यान सम्पूर्ण न करूं।
 ताव कायं—तब तक काया को
 ठाणेणं—स्थिर रखकर
 मोणेणं—मौन रह कर
 झाणेणं—ध्यान धर कर
 अप्पाणं वोसिरामि—आत्मा की पापमय प्रवृत्तियों को छोड़ता हूं।

भावार्थ

कायोत्सर्ग प्रतिज्ञा

रास्ते में चलते फिरते समय मुझसे जो हिंसा हुई है, उससे जो मेरी आत्मा मलिन हुई है, उसके लिए मैंने 'मिच्छा मि दुक्कडं' किया है। उससे यदि मेरी आत्मा निर्मल न हुई हो तो आत्मा को अधिक निर्मल करने के लिए प्रायश्चित्त करना परमावश्यक है। प्रायश्चित्त के बिना परिणामों की विशुद्धि हो नहीं सकती। परिणामों की विशुद्धि शल्य का त्याग करने से होती है। शल्य का त्याग एवं पाप कर्म का नाश कायोत्सर्ग अर्थात् ध्यान से होता है। अतएव मैं कायोत्सर्ग—ध्यान करता हूँ।

मैं नीचे लिखे आगारों को छोड़ कर शरीर को स्थिर रखूंगा, हिलाऊंगा नहीं। श्वासोच्छ्वास, खांसी, छींक, जम्हाई, डकार, अधोवायु, मस्तक आदि में चक्कर, पित्तविकार से मूर्च्छा, अंग का सूक्ष्म संचालन, दृष्टि का संचालन, कफ, थूक आदि का संचार इत्यादि स्वयमेव होने वाली शारीरिक क्रिया के होने पर भी मेरा ध्यान भंग न हो, अखण्ड रहे एवं जब तक अर्हत् भगवान् को 'णमो अरहंताणं' शब्द से नमस्कार करके ध्यान को पूर्ण न करूँ, तब तक शरीर को स्थिर रख कर, मौन रह कर तथा मन से शुभ ध्यान धर कर मैं अपनी आत्मा को वीसिराता हूँ।

कायोत्सर्ग

शरीर की प्रवृत्तियों को स्थिर करने का नाम कायोत्सर्ग है। ध्यान और कायोत्सर्ग में कुछ अन्तर है। ध्यान का मुख्य काम मन को एकाग्र करना है और कायोत्सर्ग का मुख्य काम शरीर की अस्थिरता को रोकना है। गौण रूप से ध्यान और कायोत्सर्ग का पारस्परिक सम्बन्ध है। जैसे ध्यानावस्था में शरीर को स्थिर करना आवश्यक है और कायोत्सर्ग में मन की एकाग्रता नितान्त वांछनीय है।

कायोत्सर्ग में शरीर को अडोल कर दोनों आंखें मूंद कर बिना बोले मानसिक एकाग्रतापूर्वक ईर्यापथिक सूत्र का चिन्तन किया जाता है। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों को कष्ट पहुंचाने, भयभीत करने या कुचल डालने आदि कार्यों से जो दोष लगता है उसकी शुद्धि के लिए यह चिन्तन प्रायश्चित्त-स्वरूप है। कायोत्सर्ग का मुख्य ध्येय स्वकृत दोषों का अवलोकन और उनके प्रति प्रायश्चित्त करना है।

मन और शरीर का गाढ़ सम्बन्ध है। कायिक चंचलता को स्थिर करने से मन शान्त होता है। मन की शान्ति से विचार पवित्र बन जाते हैं। पवित्र विचार से पूर्वकृत दोषों की निवृत्ति हो जाती है। दोष निवृत्ति से आत्मा उज्ज्वल होती है।

अप्याणं वोसिरामि

‘अप्याणं वोसिरामि’ का अर्थ है आत्म-व्युत्सर्जन—आत्मा को त्यागना। आत्मा को कैसे त्यागा जा सकता है? वह तो जीव का पर्यायवाची शब्द है। यहां आत्म व्युत्सर्ग से आत्मा की हिंसा आदि असद् आचरण रूप दुष्प्रवृत्ति को त्यागने का अर्थ लेना चाहिये। आत्मा त्यागने योग्य नहीं, आत्मा की दुष्प्रवृत्ति त्याज्य है।

उक्कित्तणं
उत्कीर्त्तनं
चतुर्विंशतिस्तव
चौबीस तीर्थकरो का स्तवन

मूल पाठ

लोगस्स उज्जोअगरे, धम्मत्तिथ्यरे जिणे ।
अरहंते कित्तइस्सं, चउवीसंपि केवली ॥१॥

उसभमजियं च वन्दे, संभवमभिणंदणं च सुमइं च ।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चन्दप्पहं वंदे ॥२॥

सुविहिं च पुप्फदंतं, सीयल सिज्जंस वासुपुज्जं च ।
विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च वंदामि ॥३॥

कुंथुं अरं च मल्लिं, वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च ।
वंदामि रिट्टनेमिं, पासं तह वद्धमाणं च ॥४॥

एवं मए अभिथुआ, विहुययमला पहीणजरमरणा ।
चउवीसंपि जिणवरा, तिथ्यरा मे पसीयंतु ॥५॥

कित्तियं^१ वंदिय मए, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा ।
आरुग्गबोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दित्तु ॥६॥

चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा ।
सागरवरगंभीरा सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥७॥

१. कित्तियवंदिय महिया इत्यपि पाठः ।

छाया

लोके उद्योतकरान् धर्मतीर्थकरान् जिनान्।
 अर्हतः कीर्तयिष्यामि चतुर्विंशतिम्-अपि-केवलिनः॥१॥
 ऋषभं अजितं च वन्दे सम्भवं अभिनन्दनं च।
 सुमतिं च पद्मप्रभं सुपाश्वं जिनं च चन्द्रप्रभं वन्दे॥२॥
 सुविधिं च पुष्पदन्तं शीतलश्रेयांसवासुपूज्यान् च।
 विमलं अनन्तं च जिनं धर्मं शान्तिं च वंदामि॥३॥
 कुन्थुम् अरं च मल्लिं वन्दे मुनिसुव्रतं नमिजिनं च।
 वन्दे अरिष्टनेमिं पार्श्वं तथा वर्धमानं च॥४॥
 एवं मया अभिष्टुताः विधुतरजोमलाः प्रहीणजरामरणाः।
 चतुर्विंशतिः अपि जिनवराः तीर्थकराः मम प्रसीदन्तु॥५॥
 कीर्तिताः वन्दिताः मया ये एते लोकस्य उत्तमाः सिद्धाः।
 आरोग्यबोधिलाभं समाधिवरं उत्तमं ददतु॥६॥
 चन्द्रेभ्यः निर्मलतराः आदित्येभ्यः अधिकं प्रकाशकराः।
 सागरवरगम्भीराः सिद्धाः सिद्धिं मम दिशन्तु॥७॥

शब्दार्थ

लोगस्स उज्जोअगरे—लोक में उद्योत करने वाले
 धम्मत्तित्थयरे जिणे—धर्म तीर्थ के प्रवर्तक, जिन राग-द्वेष जीतने वाले।
 अरहंते कित्तइस्सं—तीर्थकरों का मैं स्तवन करता हूँ।
 चउवीसंपि केवली—चौबीस केवली
 उसभमजियं च वंदे—ऋषभ और अजित को वन्दना करता हूँ।
 संभवमभिणंदणं च—संभव और अभिनन्दन स्वामी को
 सुमइं च—सुमतिनाथ को
 पउमप्पहं—पद्मप्रभ को
 सुपासं जिणं च—सुपाश्वनाथ जिन और
 चंदप्पह वंदे—चन्द्रप्रभ को वन्दना करता हूँ।
 सुविहिं च पुष्पदंतं—सुविधिनाथ को (दूसरा नाम) पुष्पदंत को
 सीयलसिज्जंसवासुपुज्जं च—शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, वासुपूज्य को
 विमलमणंतं च जिणं—विमलनाथ और अनन्तनाथ जिन को

धम्मं संति च वंदामि—धर्मनाथ और शांतिनाथ को वन्दना करता हूं।
 कुंथुं अरं च मल्लिं—कुंथुनाथ, अरनाथ और मल्लिनाथ को
 वंदे मुणिसुव्वयं—मुनि सुव्रत को वन्दना करता हूं।
 नमि जिणं च—और नमिनाथ जिन को
 वंदामि रिट्टुनेमिं—वन्दन करता हूं अरिष्टनेमि को
 पासं तह वद्धमाणं च— पार्श्वनाथ तथा वर्द्धमान-महावीर भगवान् को।
 एवं मए अभिथुआ—इस प्रकार से मेरे द्वारा स्तवन किये गये
 विहुअरयमला—पापरूपी रज-मल से रहित
 पहीणजरमरणा—जरा-वृद्धावस्था और मरण से मुक्त
 चउवीसंपि जिणवरा—चौबीस ही जिनवर
 तित्थयरा मे पसीयंतु—तीर्थकर देव मुझ पर प्रसन्न हों
 कित्तिय वंदिय मए—मेरे द्वारा कीर्तित वंदित
 जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा—जो लोक के प्रधान सिद्ध हैं।
 आरुग्गबोहिलाभं—आरोग्य, बोधि का लाभ
 समाहिवरमुत्तमं दित्तु—समाधि का वर उत्तम—श्रेष्ठ दें
 चंदेसु निम्मलयरा—चन्द्रों से विशेष निर्मल
 आइच्चेसु अहियं पयासयरा—सूर्य से अधिक प्रकाश करने वाले
 सागरवरगंभीरा—समुद्र के समान गंभीर
 सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु—सिद्ध भगवान् मुझको सिद्धि दें।

भावार्थ

चौबीस तीर्थकरों का स्तवन

लोक में उद्योत—प्रकाश करने वाले, धर्म रूपी तीर्थ की स्थापना करने वाले, राग-द्वेष को जीतने वाले तीर्थकरों की मैं स्तुति करता हूं।

ऐसे तीर्थकर केवली चौबीस हैं यथा—श्री ऋषभनाथ, श्री अजितनाथ, श्री संभवनाथ, श्री अभिनन्दन, श्री सुमतिनाथ, श्री पद्मप्रभ, श्री सुपार्श्वनाथ, श्री चन्द्रप्रभ, श्री सुविधिनाथ (पुष्पदंत), श्री शीतलनाथ, श्री श्रेयांसनाथ, श्री वासुपूज्य, श्री विमलनाथ, श्री अनंतनाथ, श्री धर्मनाथ, श्री शांतिनाथ, श्री कुंथुनाथ, श्री अरनाथ, श्री मल्लिनाथ, श्री मुनिसुव्रत, श्री नमिनाथ, श्री

अरिष्टनेमि, श्री पार्श्वनाथ, श्री वर्द्धमान महावीर ।

ये तीर्थकर कर्म-मल रहित हैं, जरा और मरण से मुक्त हैं। तीर्थों के प्रवर्तक हैं। ऐसे चौबीस तीर्थकर मेरे पर प्रसन्न हों।

इनकी मैं वचन से कीर्ति, प्रशंसा करता हूं, काया से वन्दना करता हूं, मन से भाव-पूजा करता हूं। ये सम्पूर्ण लोक में उत्तम हैं। ये सिद्ध हो चुके हैं। ऐसे भगवान् मुझे आरोग्य सम्यक्त्व तथा समाधि का श्रेष्ठ वर दें।

सिद्ध भगवान सब चन्द्रों से विशेष निर्मल हैं, सब सूर्यों से विशेष प्रकाशमान हैं। स्वयंभू-रमण नामक महासमुद्र के समान गम्भीर हैं—इनके आलम्बन से मुझे सिद्धि या मोक्ष प्राप्त हो।

लोगस्स

एक ओर जैन दर्शन आत्मा को ही कर्ता हर्ता मानता है, दूसरी ओर ऐसे भगवान् मुझे आरोग्य, सम्यक्त्व तथा समाधि का श्रेष्ठ वर दें, मुक्त आत्माओं से वरदान की याचना करना सिखाता है, यह विरोधाभास क्यों?

यह सत्य है कि जैन दर्शन मुक्त आत्माओं को कर्ता नहीं मानता। हम उनसे कोई भी फल-प्राप्ति करवाने की आशा नहीं रखते। मुक्त आत्माएं हमें श्रेष्ठ वरदान दें, यह हमारी मंगल कामना है। हम सिद्ध भगवान् के आदर्शों को सामने रखकर उनके पद-चिह्नों का अनुसरण करते हैं। उनके गुणों को याद करते हैं। उनकी साधना के आचरण जीवन में उतारने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार वे सिद्ध भगवान् हमारे अभ्युदय के हेतु बनते हैं, अवलम्बन बनते हैं। सम्यक्त्व और समाधि के लाभ की कर्ता तो हमारी आत्मा ही है।

सकथुई

शक्र-स्तुति

मूल पाठ

णमोत्थुणं अरहंताणं भगवंताणं आङ्गराणं तित्थयराणं सहसंबुद्धाणं ।
पुरिसोत्तमाणं पुरिससीहाणं पुरिसवरपुंडरीयाणं पुरिसवरगंधहत्थीणं ।
लोगुत्तमाणं लोगनाहाणं लोगहियाणं लोगपईवाणं लोगपज्जोअगराणं ।
अभयदयाणं चक्खुदयाणं मग्गदयाणं सरणदयाणं बोहिदयाणं । जीवदयाणं
धम्मदयाणं धम्मदेसयाणं धम्मनायगाणं धम्मसारहीणं
धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं । दीवोत्ताणं सरण-गई-पइट्टा
अप्पडिहयवरनाणदंसणधराणं विअट्टुत्तमाणं जिणाणं जावयाणं तिन्राणं
तारयाणं बुद्धाणं बोहयाणं मुत्ताणं मोअगाणं सब्बन्नूणं सब्बदरिसीणं
सिखमयल-मरुअमणंत-मक्खय-मव्वाबाह-मपुणरावित्ति सिद्धिगइनामधेयं
ठाणं (संपाविउकामाणं) संपत्ताणं नमो जिणाणं, जियभयाणं ॥

छाया

नमः अस्तु अर्हद्भ्यः भगवद्भ्यः आदिकरेभ्यः तीर्थकरेभ्यः स्वयं-
सम्बुद्धेभ्यः पुरुषोत्तमेभ्यः पुरुषसिंहेभ्यः पुरुषवरपुण्डरीकेभ्यः पुरुषवरगन्ध-
हस्तिभ्यः लोकोत्तमेभ्यः लोकनाथेभ्यः लोकहितेभ्यः लोकप्रदीपेभ्यः लोक-
प्रद्योतकरेभ्यः अभयदयेभ्यः चक्षुर्दयेभ्यः मार्गदयेभ्यः शरणदयेभ्यः बोधि-
दयेभ्यः जीवदयेभ्यः धर्मदयेभ्यः धर्मदेशकेभ्यः धर्मनायकेभ्यः धर्मसारथिभ्यः
धर्मवरचातुरन्तचक्रवर्तिभ्यः द्वीपः त्राणं शरण-गति-प्रतिष्ठा अप्रतिहतवर-
ज्ञानदर्शनधरेभ्यः व्यावृत्तच्छत्रभ्यः जिनेभ्यः जापकेभ्यः तीर्णेभ्यः तारकेभ्यः
बुद्धेभ्यः बोधकेभ्यः मुक्तेभ्यः मोचकेभ्यः सर्वज्ञेभ्यः सर्वदर्शिभ्यः शिवम्
अचलम् अरुजम् अनन्तम् अक्षयम् अव्याबाधम् अपुनरावृत्तिसिद्धिगतिनामधेयं
स्थानं (संप्राप्तुकामेभ्यः) संप्राप्तेभ्यः नमः जिनेभ्यः जितभयेभ्यः ।

शब्दार्थ

- णमोत्थुणं—नमस्कार हो
 अरहंताणं भगवंताणं—अर्हत् भगवान् को (वे भगवान कैसे हैं)
 आङ्गराणं—धर्म के आदि कर्ता
 तित्थयराणं—धर्मतीर्थ की स्थापना करने वाले
 सहसंबुद्धाणं—अपने आप बोध को प्राप्त हुए
 पुरिसोत्तमाणं—पुरुषों में उत्तम
 पुरिससीहाणं—पुरुषों में सिंह के समान
 पुरिसवरपुंडरीयाणं—पुरुषों में पुण्डरीक कमल के समान निर्लेप
 पुरिसवरगंधहत्थीणं—पुरुषों में प्रधान गंधहस्ती के समान
 लोगुत्तमाणं—लोक में उत्तम
 लोगनाहाणं—लोक में नाथ
 लोगहियाणं—लोक के हितकारी
 लोगपईवाणं—लोक में प्रदीप के समान
 लोगपज्जोअगराणं—लोक में उद्योत करने वाले
 अभयदयाणं—अभयदान देने वाले
 चक्खुदयाणं—ज्ञानरूपी नेत्रों को देने वाले
 मग्गदयाणं—मोक्ष मार्ग को देने वाले
 सरणदयाणं—सर्व जीवों के शरण भूत
 बोहिदयाणं—बोधि बीज को देने वाले
 जीवदयाणं—संयमरूपी जीवन के दाता
 धम्मदयाणं—धर्म के दाता
 धम्मदेसयाणं—धर्मोपदेशक
 धम्मनायगाणं—धर्म के नायक
 धम्मसारहीणं—धर्मरूपी रथ के सारथी
 धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं—धर्म में प्रधान और चार गति का नाश करने
 वाले, अतएव चक्रवर्ती के समान
 दीवोत्ताणं—संसार समुद्र में द्वीप के समान और रक्षक

सरण-गई-पइट्टा—आप शरण देने वाले हैं, गति हैं, प्रतिष्ठा हैं
 अप्पडिहयवरनाणदंसणधराणं—अप्रतिहत, कहीं भी स्वलित न हो, ऐसे
 श्रेष्ठ ज्ञान दर्शन के धारक
 वियट्टुछउमाणं—छद्म अर्थात् घाति-कर्मों से रहित
 जिणाणं—राग-द्वेष को जीतने वाले
 जावयाणं—राग-द्वेष को जिताने वाले
 तिन्नाणं—संसार समुद्र से स्वयं तरते हुए
 तारयाणं—दूसरों को तारने वाले
 बुद्धाणं—स्वयं बुद्ध
 बोहयाणं—दूसरों को बोध देने वाले
 मुत्ताणं—स्वयं कर्मों से मुक्त
 मोअगाणं—औरों को कर्ममुक्त करने वाले
 सव्वन्नू णं—सर्वज्ञ
 सव्वदरिसीणं—सर्वदर्शी
 सिवं—कल्याण
 अयलं—स्थिर
 अरुअं—रोग-रहित
 अणंतं—अनन्त
 अक्खयं—अक्षय
 अव्वाबाहं—अव्याबाध, बाधा पीड़ा रहित
 अपुणरावित्ति—पुनरागमन रहित, पुनर्जन्म रहित (ऐसे)
 सिद्धिगइनामधेयं ठाणं—सिद्धि गति नामक स्थान को
 संपाविउकामाणं—प्राप्त करने वाले अर्थात् करेंगे
 संपत्ताणं—प्राप्त हुए (ऐसे)
 णमो जिणाणं—नमस्कार हो जिन भगवान् को
 जियभयाणं—भयों को जीतने वाले को।

अर्थ

शक्र स्तुति

मैं अर्हत् भगवानों को नमस्कार करता हूँ। ये ज्ञानवान् हैं। धर्म सृष्टि के करने वाले कर्ता हैं। साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप चार तीर्थ के संस्थापक हैं। जिन्होंने बिना किसी उपदेश के स्वयं ज्ञान प्राप्त किया है, जो सर्व पुरुषों में उत्तम हैं, सिंह के समान निर्भीक हैं, कमल के समान सुन्दर, शोभायमान एवं अलिप्त हैं, लोक के नाथ हैं, लोक-हितकर हैं। जो दीप-ज्योति के समान लोकरूपी हृदय-मन्दिर में प्रकाश करने वाले हैं एवं जो लोक के अज्ञान रूपी अंधकार का नाश करने वाले हैं। जो सर्व जीवों को अभयदान देने वाले हैं, जो ज्ञान-हीन को ज्ञान रूपी चक्षु देने वाले हैं, जो मार्ग-भ्रष्ट हुए लोगों को अच्छा मार्ग दिखाने वाले हैं जो धर्महीन को धर्म-दान देने वाले हैं, जो धर्म के उपदेशक हैं, धर्म के नायक हैं, धर्म रूपी रथ के सारथी हैं, जो धर्म में श्रेष्ठ हैं तथा चक्रवर्ती के समान चातुरंत हैं। जिस प्रकार चक्रवर्ती चार दिशाओं में विजय प्राप्त करने के कारण चातुरंत कहलाता है उसी प्रकार अर्हत् चारों गतियों का अन्त कर डालने के कारण चातुरंत कहलाते हैं। संसाररूपी समुद्र में डूबते हुए प्राणियों के लिए द्वीप के समान सहायक होने से अर्हत् 'द्वीप' हैं। सर्व आपदाओं से रक्षा करने वाले होने से अर्हत् 'त्राण' हैं। अर्हत् सम्पत्ति के दातार हैं अतः 'शरण' हैं। कल्याण के लिए आपका आश्रय ग्रहण किया जाता है अतः आप 'गति' हैं। आपमें सर्वगुण प्रतिष्ठित हैं अतः आप 'प्रतिष्ठा' हैं। आप केवलज्ञान, केवल-दर्शन को धारण करने वाले हैं। आप चार घाति-कर्म रूपी आवरण से रहित हैं। आप स्वयं राग-द्वेष को जीतने वाले तथा दूसरों को जिताने वाले हैं। आप स्वयं संसार समुद्र से तरने वाले तथा दूसरों को भी तारने वाले हैं। आप स्वयं ज्ञानवान् हैं तथा दूसरों को भी ज्ञानवान् करने वाले हैं। आप स्वयं मुक्त हैं तथा दूसरों को भी मुक्त करने वाले हैं। आप सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं, उपद्रव रहित, अचलायमान, रोग-व्याधि रहित, अनन्त, अक्षय, बाधा-पीड़ा रहित, पुनर्जन्म रहित मोक्ष को प्राप्त करने वाले हैं। सर्व प्रकार के भय को आपने जीत लिया है, ऐसे जिनेश्वर को मैं नमस्कार करता हूँ।

विवेचन

सिद्ध भगवान् जहां रहते हैं, उस स्थान का नाम सिद्ध-गति है। सिद्ध-गति का दूसरा नाम मुक्ति या मोक्ष है। यह स्थान ऊर्ध्व लोक के अन्त में है। इसके

परे अलोकाकाश के सिवाय कुछ नहीं है। सिद्ध भगवान् मुक्त होते ही वहां चले जाते हैं। स्वभाव से ही आत्मा ऊर्ध्वगामी है। कर्म के भार से दबी हुई आत्मा ही तिर्यग् या नीचे जाती है। कर्मभार का दबाव छूटते ही आत्मा अपने स्वभावानुसार लोक की सीमा तक जहां तक जा सकती है, चली जाती है।

वस्तुतः सिद्ध-गति या मोक्ष का अर्थ मुक्त आत्मा है। उपचार से मुक्त आत्माओं के रहने के स्थान को भी सिद्ध-गति, मोक्ष आदि नामों से सम्बोधित करते हैं। मुक्त आत्माओं और उनके रहने के स्थान को एक मानकर ही सिद्ध-गति के पूर्व शिव, अचल, अरुज, अक्षय, अनन्त, अव्याबाध और अपुनरावृत्ति—इतने विशेषण जोड़े हैं। इतने विशेषणों को जोड़ने का मतलब स्वर्ग और मोक्ष का अन्तर दिखलाना है। साधारण लोग स्वर्ग और मोक्ष को एक ही मानते हैं। कोई-कोई तो मुक्त आत्माओं को लौटाने तक का साहस कर बैठते हैं। उनके निराकरण के लिए इन विशेषणों की सार्थकता है। मुक्त आत्माओं का पुनरावर्तन मानना अयुक्त है। पुनर्जन्म सहेतुक है, निहेतुक नहीं।

पुनर्जन्म का हेतु कर्म है। मुक्त आत्माएं कर्म का समूल नाश कर डालती हैं। 'कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः' का अर्थ है सम्पूर्ण कर्मों के क्षय होने से आत्म स्वरूप का प्रकट होना। मुक्त जीव कर्म रहित होते हैं। कर्म के अभाव में पुनर्भव के अंकुर का रोहण नहीं हो सकता। जैसे—

दग्धे बीजे यथात्यन्तं, प्रादुर्भवति नांकुरः ।

कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवांकुरः ॥

बीज को जलाकर राख कर डालने से अंकुर पैदा नहीं होता, उसी प्रकार कर्म बीज के नाश हो जाने से भव-अंकुर पैदा नहीं होता।

पडिक्कमण-पडिन्ना

प्रतिक्रमण-प्रतिज्ञा

मूल पाठ

आवस्सही इच्छाकारेण संदिसह भयवं देवसियं पडिक्कमणं ठाएमि
देवसिय णाण-दंसण-चरित्ताचरित्त तव-अइयारचित्तवणट्टं करेमि
काउस्सगं ।

छाया

आवश्यकि इच्छाकारेण संदिशत भगवन् दैवसिकं प्रतिक्रमणं तिष्ठामि
दैवसिक-ज्ञान-दर्शन-चरित्राचरित्र-तपोऽतिचारचिन्तनार्थं करोमि कायोत्सर्गम् ।

शब्दार्थ

आवस्सही—अवश्य करणीय (में प्रवृत्त होता हूँ)
इच्छाकारेण—आप इच्छानुसार
संदिसह—आज्ञा दें
भयवं—हे भगवन्!
देवसियं—मैं दिवस सम्बन्धी
पडिक्कमणं—प्रतिक्रमण
ठाएमि—करता हूँ
देवसिय—दिवस सम्बन्धी
णाण-दंसण—ज्ञान दर्शन
चरित्ताचरित्त—चरित्राचरित्र
तव—तप के
अइयारचित्तवणट्टं—अतिचारों के चिन्तन के लिए
करेमि—करता हूँ
काउस्सगं—कायोत्सर्ग ।

भावार्थ

जिनशासन में गुरु की आज्ञा सर्वोच्च है। गुरु के आदेशानुमोदित धर्माचरण निर्विघ्न फलीभूत होते हैं। अतीत के दोषों से निवृत्त होने के अवसर पर शिष्य गुरु से प्रार्थना करता है—

हे भगवन्! आप मुझे आदेश दें। आपके आदेशानुसार मैं दैनिक अतिचारों से निवृत्त होने के लिए प्रतिक्रमण करूंगा।

भगवन्! मैंने आपके आदेश से मोक्ष के साधन ज्ञान, दर्शन और आंशिक रूपेण चारित्र को जीवन में उतारने का प्रयत्न किया है। उनमें कोई अतिचार दोष लगा हो तो उसको मैं याद करूंगा और उसकी शुद्धि के लिए कायोत्सर्ग करूंगा। अर्थात् शरीर को स्थिर बना कर ईर्यापथिक सूत्र का ध्यान कर 'मिच्छा मि दुक्कडं' का प्रायश्चित्त करूंगा।

अइयार चिन्तन पाठ

अतिचार चिन्तन पाठ

मूल पाठ

इच्छामि ठाड़ुं काउस्सगं (पडिक्कमिउं) (आलोइउं) जो मे देवसिओ अइयारो कओ काइओ वाइओ माणसिओ उस्सुत्तो उम्मगो अकप्पो अकरणिज्जो दुज्झाओ दुव्विचिंतिओ अणायारो अणिच्छिअव्वो असावगपाउगो नाणे तह दंसणे चरित्ता-चरित्ते सुए सामाइए तिण्हं गुत्तीणं चउण्हं कसायाणं पंचण्हमणुव्वयाणं तिण्हं गुणव्वयाणं चउण्हं सिक्खावयाणं वारसविहस्स सावगधम्मस्स जं खंडियं जं विराहियं तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

छाया

इच्छामि स्थातुं कायोत्सर्गम् (प्रतिक्रमितुं) (आलोचितुं) यो मया दैवसिकः अतिचारः कृतः काथिकः वाचिकः मानसिकः उत्सूत्रः उन्मार्गः अकल्प्यः अकरणीयः दुर्ध्यातः दुर्विचिन्तितः अनाचारः अनेष्टव्यः अश्रावकप्रायोग्यः ज्ञाने तथा दर्शने चरित्राचरित्रे श्रुते सामायिके तिसृणां गुप्तीनां चतुर्णां कषायाणां पञ्चानामणुव्रतानां त्रयाणां गुणव्रतानां चतुर्णां शिक्षाव्रतानाम् द्वादशविधस्य श्रावकधर्मस्य यत् खण्डितं यद् विराधितं तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम् ।

शब्दार्थ

इच्छामि—मैं इच्छा करता हूं ।

ठाड़ुं—करने की

काउस्सगं—कायोत्सर्ग

(पडिक्कमिउं)—दुष्प्रवृत्ति से निवृत्त होने के लिए

(आलोड़ुं)— आलोचना करने के लिए
 जो मे देवसियो—जो मैंने दिवस सम्बन्धी
 अड़यारो कओ—अतिचार किया हो
 काड़ओ—शरीर सम्बन्धी
 वाड़ओ—वचन सम्बन्धी
 माणसिओ—मन सम्बन्धी
 उस्सुत्तो—सूत्र से विरुद्ध कथन किया हो।
 उम्मगो—मार्ग से विरुद्ध कथन किया हो।
 अकप्पो—आचार से विरुद्ध काम किया हो।
 अकरणिज्जो—न करने योग्य कार्य किया हो।
 दुज्झाओ—अशुद्ध ध्यान किया हो।
 दुव्विचिंतिओ—अशुद्ध चिन्तन किया हो।
 अणायारो—अनाचार, नियमों का सर्वथा भंग किया हो।
 अणिच्छिअव्वो—अवांछनीय पदार्थों की इच्छा की हो।
 असावग्गपाउग्गो—श्रावक वृत्ति से अनुचित कार्य किया हो।
 नाणे तहा दंसणे—ज्ञान तथा दर्शन में
 चरित्ताचरित्ते—देश विरति में
 सुए—अकाल में आवश्यक करने में
 सामाइए—सामायिक में
 तिण्हं गुत्तीणं—तीन गुप्ति में
 चउण्हं कसायाणं—चार कषाय की निवृत्ति में
 पंचणहमणुव्वयाणं—पांच अणुव्रत में
 तिण्हं गुणव्वयाणं—तीन गुणव्रत में
 चउण्हं सिक्खावयाणं—चार शिक्षाव्रत में
 बारसविहस्स—इस प्रकार बारह व्रत रूप
 सावग धम्मस्स—श्रावक धर्म का
 जं खडियं—जो देशतः खण्डन किया हो
 जं विराहियं—जो सर्वथा विराधना की हो।
 तस्स मिच्छामि दुक्कडं—उसका निष्फल हो सब पाप।

भावार्थ

मैं चित्त एवं शरीर को स्थिर कर अतिचारों की आलोचना करने के लिए, दुष्प्रवृत्तियों से निवृत्त होने के लिए कायोत्सर्ग करना चाहता हूँ। प्रवृत्ति तीन प्रकार की होती है—मन की, वचन की और शरीर की। प्रत्येक प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है—शुभ और अशुभ। हिंसा आदि असद् आचरणों में होने वाली प्रवृत्ति अशुभ कहलाती है, अहिंसा आदि सद् आचरणों में होने वाली प्रवृत्ति शुभ कहलाती है। साधना की प्रारम्भिक दशा में अशुभ आचरणों का प्रत्याख्यान होता है। उस प्रत्याख्यान में किसी प्रकार की त्रुटि हो जाती है यानी त्यागे हुए अशुभ आचरणों में प्रवृत्ति होने के लिए तदनुकूल सामग्री जुटा ली जाती है। उसकी विशुद्धि के लिए अर्थात् पुनः शुभ आचरणों में प्रवृत्त होने के लिए कायोत्सर्ग करना नितान्त आवश्यक है। मन, वचन और शरीर की दुष्प्रवृत्तियों के अनेक प्रकार निम्न पंक्तियों में बतलाये गये हैं, जैसे—

१. उत्सूत्र—सर्वज्ञ प्रणीत सिद्धान्तों के प्रतिकूल प्ररूपणा करना। चूंकि ज्ञान अनन्त है, अल्प बुद्धि में वह सारा नहीं समा सकता। उस सम्पूर्ण ज्ञान के बिना सब पदार्थों का पूरा ज्ञान नहीं हो सकता। अतएव यह उचित है कि हम सर्वज्ञ-कथित शास्त्रों के अनुसार विश्व-स्थिति को समझें, तर्क को बलवान् बनाएं और तदनुकूल आचरण करें।

२. उन्मार्ग—उन्मार्ग में प्रवृत्ति करना अर्थात् मोक्ष मार्ग के प्रतिकूल आचरण करना। मोक्ष के चार मार्ग हैं—ज्ञान^१, दर्शन^२, चारित्र^३ और तपस्या।

३. अकल्प्य—श्रावक के आचार के प्रतिकूल काम करना। निरपराध त्रस जीवों की हिंसा नहीं करना, स्थूल असत्य से निवृत्त होना आदि श्रावक का कल्प है।

४. अकरणीय—न करने योग्य कार्य करना। महारम्भ और महा परिग्रह वाला काम-धंधा करना। जैसे—मांस का व्यापार करना, अनन्तकाय का व्यापार करना आदि श्रावक के लिए अकरणीय है।

५. दुर्ध्यान—आर्त्त-रौद्र ध्यान करना। प्रिय का वियोग और अप्रिय का

१. जिससे पदार्थों का ज्ञान होता है, जैसे—मति ज्ञान आदि।

२. सम्यक् तत्त्व रुचि।

३. सावद्य योग का प्रत्याख्यान करना।

संयोग होने पर प्रिय की प्राप्ति और अप्रिय के नाश के लिए चिन्तन करना आर्त्त ध्यान है। हिंसा, झूठ और विषय-वासना सम्बन्धी चिन्तन करना रौद्र ध्यान है।

६. दुर्विचिन्तन—चित्त से अशुभ विचार करना।

इन अतिचारों में उत्सूत्र, उन्मार्ग, अकल्प्य, अकरणीय—ये चार मुख्यतया मन से सम्बन्धित हैं। ये तीनों प्रकार के मानसिक, वाचिक और कायिक अतिचार श्रावक के लिए योग्य नहीं, अतएव अनाचरणीय और अवांछनीय हैं।

७. श्रुत—सूत्र सिद्धान्त।

८. सामायिक—देशविरति या समतारूप।

इन सम्बन्धी अतिचार का सेवन किया हो, मन, वचन और शरीर को वश में न रखा हो।

क्रोध, मान, माया, लोभ—इन चार कषायों का उपशमन न किया हो।

पांच अणुव्रत—स्थूल हिंसा का त्याग, स्थूल असत्य का त्याग, स्थूल चोरी का त्याग, स्थूल मैथुन का त्याग, स्थूल परिग्रह का त्याग। तीन गुणव्रत—दिग्व्रत, उपभोग-परिभोग-परिमाण-व्रत, अनर्थदण्ड-विरमण-व्रत। चार शिक्षाव्रत—सामायिक-व्रत, देशावकाशिक-व्रत, पौषधोपवास-व्रत, अतिथिसंविभाग-व्रत। श्रावक के इन बारह व्रतों का आंशिक खण्डन किया हो अथवा पूर्ण विराधन किया हो तो इससे उत्पन्न मेरा सब पाप निष्फल हो।

११ अइयारज्झाणं

निन्नानवे अतिचार का ध्यान

मूल पाठ

ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि ।

छाया

स्थानेन मौनेन ध्यानेन, आत्मानं व्युत्सृजामि ।

मूलार्थ

स्थिर होकर, मौन रहकर, ध्यान धरकर, आत्मा को—आत्मा की पापमय प्रवृत्तियों को छोड़ता हूँ।

ज्ञान के चौदह अतिचार

आगम तीन प्रकार का कहा है, जैसे—१. सूत्रागम २. अर्थागम ३. शब्द और अर्थ—इन दोनों रूप आगम।

ऐसे ज्ञान में जो कोई अतिचार-दोष लगा हो तो उसकी मैं आलोचना करता हूँ।

- (१) सूत्र का पठन अस्त-व्यस्त किया हो।
- (२) दूसरा सूत्र साथ में मिलाकर पढ़ा हो।
- (३) अक्षरों को छोड़कर पढ़ा हो।
- (४) अधिक अक्षर मिलाकर पढ़ा हो।
- (५) पद-हीन पढ़ा हो।
- (६) विनय रहित पढ़ा हो।
- (७) स्वर रहित पढ़ा हो।
- (८) शुभयोग रहित पढ़ा हो।

- (९) भाजन से अधिक ज्ञान दिया हो।
- (१०) गुरु ने ज्ञान दिया, उसे उल्टा ग्रहण किया हो।
- (११) अकाल में स्वाध्याय किया हो।
- (१२) स्वाध्याय के काल (समय) में स्वाध्याय न किया हो।
- (१३) अस्वाध्याय में स्वाध्याय किया हो।
- (१४) स्वाध्याय में स्वाध्याय न किया हो।

पढ़ते समय, मनन करते समय या विचार करते समय ज्ञान की अथवा ज्ञानवान् की आशातना की हो। इत्यादि जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार किये हों, मेरे वे सब दोष निष्फल हों।

सम्यक्त्व के पांच अतिचार

अर्हत् मेरे देव हैं। जीवन पर्यन्त शुद्ध साधु (वर्तमान आचार्य) मेरे गुरु हैं। जिन भाषित संवर निर्जरा रूप मेरा धर्म है। यह सम्यक्त्व मैंने ग्रहण किया है। ऐसे सम्यक्त्व में जो कोई अतिचार-दोष लगा हो तो उसकी मैं आलोचना करता

हूँ।

१. श्री जिनभाषित तत्त्व में शंका की हो।
२. बाह्याडम्बरादि देखकर पर-मत की वांछा की हो।
३. क्रिया के फल में सन्देह किया हो।
४. पर-पाषंड की प्रशंसा की हो।
५. पर-पाषंड से परिचय किया हो।

सम्यक्त्वरूपी रत्न के ऊपर मिथ्यात्व रूपी रज-मल लगा हो, जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार-दोष किये हों, मेरे वे सब दोष निष्फल हों।

देश चारित्र के सम्बन्ध में जो कोई अतिचार-दोष लगा हो तो उसकी मैं आलोचना करता हूँ।

१. पहले स्थूल प्राणातिपात-विरमण-व्रत में जो कोई अतिचार-दोष लगा हो तो उसकी मैं आलोचना करता हूँ।

(क) क्रोधदिवश त्रस जीवों को गाढ़ (कठिन) बन्धन से बांधा हो।

(ख) गहरा घाव किया हो।

(ग) अवयव का छेदन किया हो।

(घ) अधिक भार लादा हो।

(ङ) आहार पानी का विच्छेद किया हो।

जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार-दोष किये हों, मेरे वे सब दोष निष्फल हों।

२. दूसरे स्थूल मृषावाद विरमण-व्रत में जो कोई अतिचार-दोष लगा हो उसकी मैं आलोचना करता हूँ।

(क) सहसाकार—किसी के प्रति झूठा कलंक लगाया हो।

(ख) रहस्य की बातें करते देखकर कलंक लगाया हो।

(ग) स्त्री-पुरुष के मर्म प्रकट किये हों।

(घ) मृषा उपदेश दिया हो।

(ङ) झूठा लेख लिखा हो।

जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार-दोष किये हों, मेरे वे सब दोष निष्फल हों।

३. तीसरे स्थूल अदत्तादान विरमण-व्रत में जो कोई अतिचार दोष लगा हो, उसकी मैं आलोचना करता हूँ।

(क) चोर की चुराई हुई वस्तु ली हो।

(ख) चोर को सहायता की हो।

(ग) राज्य निषिद्ध क्षेत्र में व्यापारादि के लिए प्रवेश किया हो।

(घ) झूठा माप-तोल किया हो।

(ङ) सरस वस्तु में निःसार वस्तु मिलाई हो।

जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार-दोष किये हों, मेरे वे सब दोष निष्फल हों।

४. चौथे स्थूल मैथुन विरमण-व्रत में जो कोई अतिचार-दोष लगा हो, उसकी मैं आलोचना करता हूँ।

(क) पर स्त्री को भाड़े-किराये आदि के रूप में वश करके आलाप-संलाप रूप गमन किया हो।^१

(ख) वेश्या आदि के साथ आलाप-संलाप रूप गमन किया हो।^२

१,२. पहले तथा दूसरे अतिचार में श्राविकाओं को निम्नलिखित अतिचार कहना चाहिए—पर-पुरुष के साथ आलाप-संलाप रूप गमन किया हो।

- (ग) काम-कुचेष्टाएं की हों।
- (घ) दूसरों के विवाह करवाए हों।
- (ङ) काम-भोग का तीव्र अभिलाषा से सेवन किया हो।

जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार-दोष किये हों, मेरे वे सब दोष निष्फल हों।

५. पांचवें स्थूल परिग्रह-विरमण-व्रत में जो कोई अतिचार-दोष लगा हो तो उसकी मैं आलोचना करता हूँ—

- (क) खेत, घर आदि की मर्यादा का अतिक्रमण किया हो।
- (ख) सोने, चांदी की मर्यादा का अतिक्रमण किया हो।
- (ग) धन, धान्य की मर्यादा का अतिक्रमण किया हो।
- (घ) द्विपद-चतुष्पद की मर्यादा का अतिक्रमण किया हो।
- (ङ) सोने, चांदी के सिवाय अन्य धातु अथवा गृह-सामग्री की मर्यादा

का अतिक्रमण किया हो।

जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार-दोष किये हों, मेरे वे सब दोष निष्फल हों।

६. छट्टे दिग्व्रत में जो कोई अतिचार-दोष लगा हो, उसकी मैं आलोचना करता हूँ।

- (क) ऊंची दिशा में परिमाण का अतिक्रमण किया हो।
- (ख) नीची दिशा के परिमाण का अतिक्रमण किया हो।
- (ग) तिरछी दिशा में परिमाण का अतिक्रमण किया हो।
- (घ) किसी एक दिशा परिमाण को बढ़ाया हो।
- (ङ) पथ में सन्देह सहित चलकर प्रमाणातिरेक किया हो।

जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार-दोष किये हों, मेरे वे सब दोष निष्फल हों।

७. सातवें उपभोग परिभोग परिमाणव्रत में भोजन सम्बन्धी जो कोई अतिचार-दोष लगा हो, उसकी मैं आलोचना करता हूँ।

- (क) प्रत्याख्यान उपरान्त सचित्त का आहार किया हो।

(ख) सचित्त संयुक्त (अचित्त खजूर फलादि सचित्त गुठली सहित) का आहार किया हो।

(ग) अपक्व धान्यादि का भक्षण किया हो।

(घ) दुष्पक्व धान्यादि का भक्षण किया हो।

(ङ) असार फलादि का भक्षण किया हो।

जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार-दोष किये हों, मेरे वे सब दोष निष्फल हों।

पन्द्रह कर्मादान सम्बन्धी जो कोई अतिचार-दोष लगा हो, उसकी मैं आलोचना करता हूँ।

(१) इंगालकम्मे, (२) वणकम्मे, (३) साड़ीकम्मे, (४) भाड़ीकम्मे, (५) फोड़ीकम्मे, (६) दंतवाणिज्जे, (७) केसवाणिज्जे, (८) रसवाणिज्जे, (९) लक्ख वाणिज्जे, (१०) विष वाणिज्जे, (११) जंतपीलणकम्मे, (१२) निल्लंछणकम्मे, (१३) दवग्गिदावणया, (१४) सरदहतलायपरिसोसणया, (१५) असइजणपोसणिया।

जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार-दोष किये हों, मेरे वे सब दोष निष्फल हों।

८. आठवें अनर्थदंड विरमणव्रत में जो कोई अतिचार-दोष लगा हो तो उसकी मैं आलोचना करता हूँ।

(क) कंदर्प सम्बन्धी वार्तालाप किया हो।

(ख) भांड की तरह कुचेष्टाएं की हो।

(ग) बिना प्रयोजन अधिक बोला हो।

(घ) अधिकरण—शस्त्र का जोड़ किया हो।

(ङ) उपभोग परिभोग अधिक बढ़ाया हो।

जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार-दोष किये हों, मेरे वे सब दोष निष्फल हों।

९. नवमें सामायिक-व्रत में जो कोई अतिचार-दोष लगा हो तो उसकी मैं आलोचना करता हूँ।

(क) मन-योग सावद्य कार्यों में प्रवर्ताया हो।

- (ख) वचन-योग सावद्य कार्यों में प्रवर्ताया हो।
 - (ग) काया-योग सावद्य कार्यों में प्रवर्ताया हो।
 - (घ) सामायिक की सार-संभाल न की हो।
 - (ङ) सामायिक का काल पूरा हुए बिना सामायिक का पारण किया हो।
- जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार-दोष किये हों, मेरे वे सब दोष निष्फल हों।

१०. दसवें देशावकाशिक-व्रत में जो कोई अतिचार-दोष लगा हो, उसकी मैं आलोचना करता हूँ।

- (क) मर्यादित क्षेत्र से बाहर की वस्तु मंगाई हो।
- (ख) मर्यादित क्षेत्र से बाहर वस्तु भेजी हो।
- (ग) शब्द के द्वारा भाव प्रदर्शित किये हों।
- (घ) रूप दिखाकर भाव प्रदर्शित किये हों।
- (ङ) कोई पौद्गलिक वस्तु डाल कर भाव प्रदर्शित किये हों।

जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार-दोष किये हों, मेरे वे सब दोष निष्फल हों।

११. ग्यारहवें पौषध-व्रत में जो कोई अतिचार दोष लगा हो तो मैं उसकी आलोचना करता हूँ।

(क) शय्या-संधारे का प्रतिलेखन नहीं किया हो अथवा असावधानी से किया हो।

(ख) शय्या-संधारे का प्रमार्जन नहीं किया हो अथवा असावधानी से किया हो।

(ग) उच्चार-प्रस्रवण भूमि (उत्सर्ग भूमि) का प्रतिलेखन नहीं किया हो अथवा असावधानी से किया हो।

(घ) उच्चार-प्रस्रवण भूमि का प्रमार्जन नहीं किया हो अथवा असावधानी से किया हो।

(ङ) पौषधव्रत का सम्यक् प्रकार से पालन न किया हो।

जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार-दोष किये हों, मेरे वे सब दोष निष्फल हों।

१२. बारहवें यथा-संविभाग व्रत में जो कोई अतिचार-दोष लगा हो तो उसकी मैं आलोचना करता हूँ।

(क) सूझती (साधुओं के लिए कल्पनीय) वस्तु सचित्त पर रखी हो।

(ख) अचित्त वस्तु को सचित्त वस्तु से ढक दिया हो।

(ग) काल का अतिक्रमण किया हो।

(घ) अपनी वस्तु को दूसरे की बताया हो।

(ङ) मत्सर भाव से दान दिया हो।

जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार-दोष किये हों, मेरे वे सब दोष निष्फल हों।

संलेखना के पांच अतिचार

संलेखना के सम्बन्ध में जो कोई अतिचार-दोष लगा हो तो उसकी मैं आलोचना करता हूँ—

(क) इस लोक सम्बन्धी चक्रवर्ती आदि के सुखों की वांछा की हो।

(ख) परलोक सम्बन्धी इन्द्रादि के सुखों की वांछा की हो।

(ग) असंयम जीवितव्य की वांछा की हो।

(घ) बालमरण की वांछा की हो।

(ङ) काम भोग की वांछा की हो।

जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार-दोष किये हों, मेरे वे सब दोष निष्फल हों।

अठारह पापस्थान

१. प्राणातिपात २. मृषावाद ३. अदत्तादान ४. मैथुन ५. परिग्रह
६. क्रोध ७. मान ८. माया ९. लोभ १०. राग ११. द्वेष १२. कलह
१३. अभ्याख्यान १४. पैशुन्य १५. परपरिवाद १६. रति-अरति
१७. मायामृषावाद १८. मिथ्यादर्शनशल्य।

जो मैंने अठारह पाप सेवन किये हों, मेरे वे सब पाप निष्फल हों।

सुगुरु वन्दन विहि

सुगुरु वंदन विधि

मूल पाठ

इच्छामि खमासमणो वंदितुं जावणिज्जाए निसीहिआए अणुजाणह मे मिउग्गहं निसीहि अहोकायं कायसंपासं खमणिज्जो भे किलामो अप्पकिलंताणं बहुसुभेण भे दिवसो वइक्कंतो जत्ता भे जवणिज्जं च भे खामेमि खमासमणो देवसियं वइक्कमं आवस्सियाए पडिक्कमामि खमासमणाणं देवसिआए आसायणाए तित्तिसन्नयराए जं किंचि मिच्छाए मणदुक्कडाए वयदुक्कडाए कायदुक्कडाए कोहाए माणाए मायाए लोभाए सव्वकालियाए सव्वमिच्छोवयाराए सव्वधम्माइक्कमणाए आसायणाए जो मे अइयारो कओ तस्स खमासमणो पडिक्कमामि निन्दामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।

छाया

इच्छामि क्षमाश्रमण! वन्दितुं यापनीयया नैषेधिक्या अनुजानीत मम मितावग्रहम् निषद्य । अधःकायं कायसंस्पर्शम् क्षमणीयः भवद्भिः क्लामः अल्पक्लान्तानां बहुशुभेन भवतां दिवसो व्यतिक्रान्तः यात्रा भवताम् यमनीयं च भवताम् क्षमयामि क्षमाश्रमण दैवसिकम् व्यतिक्रमम् आवश्यिक्या प्रतिक्रामामि क्षमाश्रमणानां दैवसिक्या आशातनया त्रयस्त्रिंशदन्यतरया यत्किञ्चिन्मिथ्यया मनोदुष्कृतया वचोदुष्कृतया कायदुष्कृतया सर्वमिथ्योपचारया सर्वधर्मातिक्रमणया आशातनया यो मया अतिचारः कृतः तं क्षमाश्रमण! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ।

शब्दार्थ

इच्छामि—मैं इच्छा करता हूँ ।

खमासमणो—हे क्षमावान् श्रमण !

वंदितुं—वन्दना करने की
 जावणिज्जाए—शक्ति के अनुसार
 निसीहियाए—शरीर को पाप क्रिया से हटाकर
 अणुजाणह मे—आदेश दें मुझे
 मिउगहं—मितावग्रह' में प्रवेश करने की
 निसीहि—बैठकर
 अहोकायं—मैं आपके चरण का
 कायसंफासं—मेरे शरीर से—मस्तक से स्पर्श करता हूँ।
 खमणिज्जो—आप क्षमा करने योग्य हैं अतः क्षमा करें।
 भे किलामो—आपको क्लाम अर्थात् कष्ट हुआ तो
 अप्पकिलंताणं—आप कष्टानुभूति से रहित हैं।
 बहुसुभेण भे दिवसो वड्ककंतो—बहुत शुभ क्रिया से आपका दिवस
 बीता ?

जत्ता भे—यात्रा आपकी ?
 जवणिज्जं भे च—संयम आपका ?
 खामेमि—खमाता हूँ
 समासमणो—क्षमाश्रमण !
 देवसियं वड्कम्मं—दिवस सम्बन्धी अपराध को
 आवस्सियाए—आवश्यक क्रिया करने में जो विपरीत आचरण हुआ हो
 उससे
 पडिक्कमामि—निवृत्त होता हूँ।
 खमासमणाणं—आप, क्षमाश्रमण की
 देवसियाए आसायणाए—दिवस सम्बन्धी आशातना से
 तित्तिसन्नयराए—तैतीस में से कोई भी
 जं किंचि—और जो कोई
 मिच्छाए—मिथ्या भाव से
 मणदुक्कडाए—दुष्ट मन से

-
१. अवग्रह—गुरु जहां अवस्थित हों, वहां चारों दिशाओं में उनके साढ़े तीन तीन हाथ का क्षेत्र 'अवग्रह' होता है।

वयदुक्कडाए—दुष्ट वचन से
 कायदुक्कडाए—शरीर की दुःचेष्टा से
 कोहाए माणाए मायाए लोभाए—क्रोध, मान, माया और लोभ से
 सव्वकालियाए—सर्वकाल सम्बन्धी
 सव्वमिच्छोवयाराए—सब प्रकार के मिथ्या आचरणों से परिपूर्ण
 सव्वधम्माइक्कमणाए—सर्व प्रकार के धर्म का उल्लंघन करनेवाली
 आसायणाए—आशातना से
 जो मे अइयारो कओ—जो मुझसे अतिचार किया गया है।
 तस्स—उससे
 खमासमणो—हे क्षमाश्रमण!
 पडिक्कमामि—निवृत्त होता हूँ।
 निन्दामि—उसकी निन्दा करता हूँ।
 गरिहामि—गुरु साक्षी से गर्हा करता हूँ।
 अप्पाणं वोसिरामि—आत्मा के सावद्य व्यापार को त्यागता हूँ।

भावार्थ

गुरु के प्रति शिष्य का कैसा बर्ताव होना चाहिए, इसका क्षमाश्रमण सूत्र में सुन्दरतम उपदेश है। हम इसके अनुसार चलकर अपने जीवन को नम्र और आदर्श बना सकते हैं।

नम्र जीवन एकान्त सुन्दर होता है। अहंकार भावना से जीवन कुटिल और अमिलनसार बन जाता है। हमें निजी आचरणों को सरल बनाना चाहिए, यही इसे पढ़ने का लाभ है।

शिष्य गुरु के न अति निकट और न अति दूर खड़ा रहकर गुरु से प्रार्थना करता है—क्षमाश्रमण! मैं मेरे शरीर को पाप-क्रिया से हटाकर आपको वन्दना करना चाहता हूँ। इसलिए आप मुझे आपके चारों ओर शरीर प्रमाण क्षेत्र में, आपका जो स्थान निर्धारित है, उसमें प्रवेश करने की आज्ञा दें। (गुरु के समीप जाने के लिए गुरु का आदेश लेना शिष्य का कर्तव्य है।) जब गुरु शिष्य की विनीत भावना को देखकर उसे वन्दना करने की आज्ञा देते हैं, तब शिष्य वहां उपस्थित होकर फिर गुरु से प्रार्थना करता है—प्रभो! आप मुझे आज्ञा दें, मैं

आपके चरण का मस्तक से स्पर्श करूं। (गुरु की आज्ञा लेकर गुरु के चरणों को सिर से स्पर्श करता है) चरण-स्पर्श करने के बाद गुरु से क्षमायाचना करता है। हे गुरुदेव! आपके चरणों को छूने से आपको कष्ट पहुंचा हो तो मैं आपका क्षमा-प्रार्थी हूँ।

शिष्य—क्या आपने अक्लान्त अवस्था में रहकर बहुत शुभ क्रियापूर्वक दिन बिताया?

गुरु—हां, मैंने दिन को शुभ अनुष्ठान से सफल किया है।

शिष्य—आपकी संयम यात्रा सब प्रकार की बाधाओं से रहित है? आपका शरीर मन की चंचलता और इन्द्रियों के विकारों से अबाधित है?

इसके बाद शिष्य अपने अपराध की क्षमायाचना करता हुआ कहता है—क्षमाश्रमण! दिन या रात में जान या अनजान में आपका कोई भी अपराध किया हो तो उसके लिए आप मुझे क्षमा करें। भगवन्! आप मुझे आज्ञा दें—अपनी आवश्यक क्रियाओं के प्रतिकूल जो कोई आचरण किया हो उससे मैं निवृत्त होऊँ।

क्षमाश्रमण! तैतीस प्रकार की आशातनाओं में आपकी कोई भी दिन-सम्बन्धी या रात्रि-सम्बन्धी आशातना से मैंने अतिचार सेवन किया हो तो उससे मैं निवृत्त होता हूँ।

अविनय होने के कारणों का उल्लेख करता हुआ शिष्य कहता है—प्रभो! अविनय होने के इतने कारण हैं—मिथ्या भावना, मन की बुरी प्रवृत्ति, शरीर की बुरी प्रवृत्ति, क्रोध, अहंकार, कपट, लोभ, आसक्ति। इन कारणों में से किसी भी कारण से मैंने आपका अविनय किया हो तो उससे मैं निवृत्त होता हूँ।

दिन या रात किसी भी क्षण में वर्तमान, भूत या भविष्य में (भविष्य में गुरु के अनिष्ट करने का संकल्प कर लेना) सब प्रकार के मिथ्याचरणों से होने वाली या सब प्रकार के धर्म का अतिक्रमण करने वाली आशातना के द्वारा मैंने जो कोई अतिचार सेवन किया हो तो उससे भी मैं निवृत्त होता हूँ और इस प्रकार दृढ़ संकल्प करता हूँ कि भविष्य में कोई आशातना नहीं करूँगा। अतीत में मैंने जो कुछ अतिचार सेवन किया, उसकी मैं निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ यानी विशेष रूप से निन्दा करता हूँ।

तस्स सव्वस्स पाठ

मूल पाठ

तस्स सव्वस्स देवसियस्स अइयारस्स दुच्चितिय दुब्भासिय
दुच्चिद्वियस्स आलोयंतो पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं
वोसिरामि ।

छाया

तस्य सर्वस्य देवसिकस्य अतिचारस्य दुश्चिन्तितदुर्भाषितदुःस्थितस्य
आलोचयन् प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ।

शब्दार्थ

तस्स—उस

सव्वस्स—सभी

देवसियस्स—दिवस सम्बन्धी

अइयारस्स—अतिचार की

दुच्चितिय—दुष्ट विचार

दुब्भासिय—दुर्वचन

दुच्चिद्वियस्स—शरीर की कुचेष्टा रूप

आलोयंतो—आलोचना करता हुआ

पडिक्कमामि—निवृत्त होता हूँ।

निन्दामि—आत्म-निन्दा करता हूँ।

गरिहामि—गुरु साक्षी से गर्हा करता हूँ।

अप्पाणं वोसिरामि—पापकारी आत्मा को त्यागता हूँ।

भावार्थ

मन में बुरे विचार कर, बुरे वचन बोल कर एवं शरीर की पापकारी प्रवृत्ति कर दिन में जो अतिचार किये हों, उन सबकी आलोचना करता हुआ निवृत्त होता हूँ। आत्मा की निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ, पापमय आचरणों को त्यागता हूँ।

मानव मन की वृत्तियों का दास होता है। मन पर विजय पाने वाला मनुष्य वचन और शरीर पर सहज ही विजय पा लेता है। वचन और शरीर की दुष्प्रवृत्तियों में मन का बड़ा हाथ है अतएव मन का स्थान सबसे पहला है। वचन और शरीर उसके अनुगामी हैं। यद्यपि तत्त्वतः इन तीनों की प्रवृत्तियां स्वतंत्र हैं; तथापि बहुधा एक का दूसरे पर असर होता है। इन तीनों में एक की या तीनों की दुष्प्रवृत्तियों से जो अतिचार-दोष लगता है—उसकी शुद्धि के तीन साधन बतलाए हैं—

(१) आत्म-निन्दा (२) आत्म-गर्हा (३) दुष्प्रवृत्ति का प्रत्याख्यान।

अपने अवगुणों की निन्दा करना बड़ा कठिन है। गुरु के समक्ष आत्म-दोषों को प्रकट करना उससे भी कठिन है। आत्म-दुष्कार्यों का निरोध तो सबसे कठिन है। आत्म-निन्दा और आत्म-गर्हा से भाव शुद्ध होते हैं। शुद्ध भावना से कर्म-मल दूर होते हैं और आत्मा पूर्वकृत दोषों से निवृत्त हो जाती है। इस प्रकार ये दोनों अतीत के दोषों की शुद्धि के उपाय हैं। दुष्प्रवृत्ति का प्रत्याख्यान करना, वर्तमान और भविष्य में लगने वाले दोषों से पृथक् रहने का उपाय है। अतीत के दोषों का प्रायश्चित्त करना, वर्तमान और भविष्य के दोषों का निरोध करना ही आत्म-शुद्धि का श्रेष्ठ उपाय है।

चत्तारि मंगलं

चार मंगल

मूल पाठ

चत्तारि मंगलं—अरहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं,
केवलिपन्नतो धम्मो मंगलं ।

चत्तारि लोगुत्तमा—अरहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू
लोगुत्तमा, केवलिपन्नतो धम्मो लोगुत्तमो ।

चत्तारि सरणं पवज्जामि, अरहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं
पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि, केवलिपन्नत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि ।

छाया

चत्वारो मङ्गलम्—अर्हन्तो मङ्गलम्, सिद्धाः मङ्गलम्, साधवो मङ्गलम्,
केवलिप्रज्ञप्तो धर्मो मङ्गलम् ।

चत्वारो लोकोत्तमाः—अर्हन्तो लोकोत्तमाः, सिद्धाः लोकोत्तमाः, साधवो
लोकोत्तमाः, केवलिप्रज्ञप्तो धर्मो लोकोत्तमः ।

चतुरः शरणं, प्रपद्ये—अर्हतः शरणं प्रपद्ये, सिद्धान् शरणं प्रपद्ये, साधून्
शरणं प्रपद्ये, केवलिप्रज्ञप्तं धर्मं शरणं प्रपद्ये ।

शब्दार्थ

चत्तारि मंगलं—चार मंगल हैं—

अरहंता मंगल—अर्हत् मंगल

सिद्धा मंगलं—सिद्ध मंगल

साहू मंगलं—साधु मंगल

केवलिपन्नतो धम्मो मंगलं—केवली प्रज्ञप्त धर्म मंगल

चत्तारि लोगुत्तमा—चार लोक में उत्तम हैं—

अरहंता लोगुत्तमा—अर्हत् लोकोत्तम
 सिद्धा लोगुत्तमा—सिद्ध लोकोत्तम
 साधू लोगुत्तमा—साधु लोकोत्तम
 केवलिपन्नत्तो धम्मो लोगुत्तमो—केवली प्रज्ञप्त धर्म लोकोत्तम
 चत्तारि सरणं पवज्जामि—चार शरण को ग्रहण करता हूँ—
 अरहंते सरणं पवज्जामि—अर्हत् की शरण ग्रहण करता हूँ।
 सिद्धे सरणं पवज्जामि—सिद्ध भगवान् की शरण ग्रहण करता हूँ।
 साहू सरणं पवज्जामि—साधु की शरण ग्रहण करता हूँ।
 केवलिपन्नत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि—केवली प्रज्ञप्त धर्म की शरण ग्रहण
 करता हूँ।

मंगल

मंगल का अर्थ है विघ्न का नाश करना। विघ्न होने का हेतु कर्म-फल है। कर्मोदय होने के कारण ही यथेष्ट सिद्धि में बाधाएं उपस्थित होती हैं। विशुद्ध आत्माओं का स्मरण, उपासना एवं विशुद्ध आचरण कर्म-समूहों का क्षय करने वाले हैं। अतः ये मंगल हैं।

मंगल दो प्रकार के होते हैं—द्रव्य मंगल और भाव मंगल। गुण शून्य मंगल को द्रव्य मंगल कहते हैं। यह वस्तुतः मंगल नहीं, केवल उपचार मात्र है। जैसे—दूर्वा, रोली आदि पदार्थ लोक-दृष्टि से मंगल माने जाते हैं। भाव मंगल से तात्पर्य है—सगुण मंगल। यह परमार्थ रूप से मंगल है।

अर्हत्, सिद्ध, साधु और केवलीभाषित-धर्म मंगल क्यों है, यह तो स्पष्ट ही है। क्योंकि अर्हत् संयमी होते हैं और घाति कर्मों से रहित होते हैं, सिद्ध सब कर्मों से रहित होते हैं। साधु छह जीवकाय के रक्षक तथा संयमी होते हैं। इनकी उपासना या स्मृति से कर्मक्षय होता है अतः मंगल हैं।

धर्म संवर या निर्जरा रूप है। संवर कर्म-निषेध करने वाली आत्मा की अवस्था है और निर्जरा बंधे हुए कर्मों को तोड़ने वाली शुभ प्रवृत्ति-रूप आत्मा की अवस्था है। संवर से कर्म का निरोध होता है एवं निर्जरा से आत्मा उज्ज्वल होती है। अतएव धर्म मंगल है।

ये सब मंगल करने वाले हैं, इसीलिए लोक में उत्तम हैं और लोक में उत्तम हैं, इसीलिए इनकी शरण ग्राह्य है। एक छोटे से दोहे में कहा है—

ए चारों शरणा सगा, और न सगो कोय।
 जे भवी प्राणी आदरे, अक्षय अमर पद होय ॥

नाणाइयारे

ज्ञानातिचार

मूल पाठ

आगमे तिविहे पन्नत्ते, तंजहा-सुत्तागमे, अत्थागमे, तदुभयागमे।
एयस्स सिरिनाणस्स जो मे अइयारो कओ तं आलोएमि।

जं वाइद्धं वच्चामेलियं हीणक्खरियं अच्चक्खरियं पयहीणं
विणयहीणं घोसहीणं जोगहीणं सुट्टदिन्नं दुट्टुपडिच्छियं अकाले कओ
सज्झाओ काले न कओ सज्झाओ असज्झाए सज्झाइअं सज्झाए न
सज्झाइअं जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

छाया

आगमः त्रिविधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा-सूत्रागमः अर्थागमः तदुभयागमः।
एतस्य श्रीज्ञानस्य यो मया अतिचारः कृतः तं आलोचयामि व्याबिद्धं,
व्यत्याप्रेडितं, हीनाक्षरिकम्, अत्यक्षरिकम्, पदहीनं, विनयहीनं, घोषहीनं,
योगहीनं, सुष्ठु-दत्तं, दुष्ठुप्रतीच्छितं, अकाले कृतः स्वाध्यायः, काले न कृतः
स्वाध्यायः, अस्वाध्याये स्वाध्यायितं, स्वाध्याये न स्वाध्यायितं, यो मया
दैवसिकः अतिचारः कृतः तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम्।

शब्दार्थ

आगमे तिविहे पन्नत्ते-आगम तीन प्रकार का कहा है

तं जहा-जैसे

सुत्तागमे-(१) सूत्रागम-मूल-पाठ या शब्द रूप आगम

अत्थागमे-(२) अर्थागम-अर्थ रूप आगम

तदुभयागमे-(३) तदुभयागम-शब्द और अर्थ इन दोनों रूप आगम

एअस्स सिरिनाणस्स-इस श्रीयुत आगम का

जो मे अइयारो कओ—जो मैंने अतिचार किया हो तो
 तं आलोएमि—उसकी आलोचना करता हूं।
 जं वाइद्धं—सूत्र के पाठ उलट पलट कर पढ़ें हों।
 वच्चामेलियं—सूत्र के पाठ के साथ दूसरे पाठ जोड़ कर पढ़ें हों।
 हीणक्खरियं—हीन अक्षर-युक्त सूत्र पाठ पढ़ें हों।
 अच्चक्खरियं—अधिक अक्षर-युक्त सूत्र पाठ पढ़ें हों।
 पयहीणं—पदहीन सूत्र पाठ पढ़ें हों।
 विणयहीणं—विनय रहित पठन किया हो।
 घोसहीणं—घोषहीन पढ़ा हो।
 जोगहीणं—योग रहित पढ़ा हो।
 सुट्टुदिन्नं—अयोग्य को अधिक ज्ञान दिया हो।
 दुट्टुपडिच्छियं—गुरु से प्राप्त ज्ञान विपरीत रूप से ग्रहण किया हो।
 अकाले कओ सज्झाओ—अकाल में स्वाध्याय किया हो।
 काले न कओ सज्झाओ—काल में स्वाध्याय नहीं किया हो।
 असज्झाए सज्झाइयं—अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय किया हो
 सज्झाए न सज्झाइयं—स्वाध्याय काल में स्वाध्याय न किया हो।
 जो मे देवसिओ अइयारो कओ—जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार
 किया हो।
 तस्स मिच्छा मि दुक्कडं—उसका निष्फल हो पाप।

भावार्थ

ज्ञान 'रसायनमनौषधम्'—बिना औषध का रसायन है। औषधि में केवल
 दैहिक रोगों को मिटाने की क्षमता है। ज्ञान मानसिक रोगों का भी नाशक है।
 शरीर-रोग तो मानसिक विकारों के अभाव में स्वतः ही नामशेष हो जाते हैं।
 ज्ञान विशुद्ध जीवन का निर्माता और सद् आचरणों का दर्शक है। ज्ञान के बिना
 सत्क्रियाओं का पूरा-पूरा भान नहीं हो सकता। ज्ञान कहीं दूसरी जगहों से नहीं
 आता। वह हमारी आत्मा का गुण है। आगम-सिद्धान्त हमारे ज्ञान को जागृत
 करने का साधन है। सिद्धान्त के अनुसार हम सद्भावनाओं को बलवान् बना
 सकते हैं। अतः सिद्धान्त का स्थान हमारी दृष्टि में अति महत्त्वपूर्ण है। हमारे
 लक्ष्यभूत सिद्धान्त सर्वज्ञ और सर्वदर्शी भगवान् महावीर के विचार हैं और सुधर्मा
 स्वामी का गुम्फन है। दूसरे शब्दों में भगवान् महावीर के स्फुट अर्थ सुधर्मा

स्वामी द्वारा संकलित किये हुए हैं। सूत्र के मूल पाठों का अध्ययन करना सिद्धान्त-पठन है। अर्थ का और इन दोनों (सूत्र और अर्थ) का अध्ययन करना भी सिद्धान्त-पठन है। सिद्धान्त-पठन के सम्बन्ध में जो चौदह बातें वर्जनीय हैं, उनका इस ज्ञानातिचार सूत्र में स्पष्ट उल्लेख है।

१. सूत्र के शब्द और वाक्य जिस प्रकार हैं, उनको उलट-पलट कर पढ़ना प्रथम ज्ञानातिचार है।

२. अपनी बुद्धि से बनाये हुए पाठों का प्रक्षेप कर सूत्र पढ़ना दूसरा ज्ञानातिचार है। चूंकि इससे सिद्धान्त की प्रामाणिकता में बाधा आ जाती है।

३. अक्षरों को छोड़ कर सूत्र पढ़ना तीसरा ज्ञानातिचार है। क्योंकि अक्षरों को छोड़कर पढ़ने से उसका अर्थ ही समझ में नहीं आ सकता और उसका स्वरूप भी विकृत हो जाता है।

४. अधिक अक्षरों को जोड़कर सूत्र पढ़ना चौथा ज्ञानातिचार है।

५. पदों को छोड़कर सूत्र पढ़ना पांचवां ज्ञानातिचार है। विभक्ति अन्त वाले शब्दों को पद कहते हैं। यथा 'लोगस्स' यह षष्ठी विभक्ति अन्तपद है। विभक्ति का अर्थ विभाग है। इससे एक शब्द से दूसरे शब्द का और एक अर्थ से दूसरे अर्थ का विभाजन होता है। 'लोगस्स' यहां लोक शब्द के अन्त में षष्ठी विभक्ति है। इसका अर्थ है लोक का। 'उज्जोयगरे' यह द्वितीया विभक्ति है, इसका अर्थ है उद्योत करने वालों को। पदों को यथावत् न पढ़ने से सूत्र-अर्थ का विपर्यास हो जाता है।

६. विनयहीन—छठा ज्ञानातिचार है।

७. घोषहीन—सातवां ज्ञानातिचार है।

८. योगहीन—आठवां ज्ञानातिचार है।

विनय का अर्थ है आशातना को वर्जना या भक्ति-बहुमान करना।

घोष—उदात्त-अनुदात्त आदि व्याकरण निर्दिष्ट स्वरों के उच्चारण हैं। जैसे किसी स्वर को धीमे बोलना और किसी को जोर से बोलना इत्यादि।

योग—मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति करना। योग रहित से तात्पर्य है—शुभयोग रहित सूत्र पढ़ना।

९. अल्पज्ञान के योग्य व्यक्ति को अधिक ज्ञान सिखाना नौवां अतिचार है।

इस विषय में कई लोगों को सन्देह रहता है कि अयोग्य को ज्ञान देना

अतिचार क्यों? अयोग्य व्यक्ति भी ज्ञान देने से योग्य बन सकते हैं। ज्ञान के अभाव में तो सब अयोग्य ही होते हैं।

इसका उत्तर यह है—कम ज्ञान वाले अयोग्य होते हैं और अधिक ज्ञान वाले योग्य होते हैं, यह मानना अनुचित है। योग्यता और अयोग्यता सिर्फ ज्ञान पर ही निर्भर नहीं, इनकी कसौटी पुरुष की सद्भावना, सद्विवेक और ज्ञान का सदुपयोग है। जो पुरुष अविनीत, उच्छृंखल और अविवेकी होता है तथा दुर्भावना को फलित करना ही जिसका एकमात्र ज्ञान पढ़ने का लक्ष्य रहता है, वह ज्ञान का अपात्र है। इस प्रकार के पुरुष को ज्ञान देना सांप को दूध पिलाने वाली लोकोक्ति को चरितार्थ करना है। अयोग्य के हृदय में अधिक ज्ञान समा नहीं सकता। वह किसी न किसी रूप में उसका दुरुपयोग कर ही डालता है, जिससे न केवल उसकी ही अवगणना होती है, अपितु ज्ञान और ज्ञानदाता की भी भर्त्सना होती है। अतः पात्रापत्र-परीक्षापूर्वक ज्ञान देना सर्वथा उचित और सद्विवेकपूर्ण कार्य है।

(१०) गुरु के दिये हुए ज्ञान को प्रतिकूल बुद्धि से लेना दसवां ज्ञानातिचार है।

(११) अकाल में स्वाध्याय करना।

(१२) काल में स्वाध्याय न करना।

(१३) अस्वाध्याय में स्वाध्याय करना।

(१४) स्वाध्याय में स्वाध्याय न करना।

क्रमशः ११, १२, १३, १४ ज्ञानातिचार हैं।

इस प्रकार चौदह प्रकार से ज्ञान पढ़ने में जो अतिचार सेवन किया हो तो उस सम्बन्धी मेरे सब पाप निष्फल हों।

दंसण-सरूव अइयारे दर्शन-स्वरूप अतिचार

मूल पाठ

अरहंतो महदेवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो।
जिणपणत्तं तत्तं, इय सम्मत्तं मए गहियं ॥

एअस्स सम्मत्तस्स समणोवासएणं पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा
न समायरियव्वा, जं जहा १ संका २ कंखा ३ वित्तिगिच्छा ४
परपासंडपसंसा ५ परपासंडसंथवो। जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स
मिच्छामि दुक्कडं।

छाया

अहंन् मम देवः, यावज्जीवं सुसाधवो गुरुवः,
जिनप्रज्ञप्तं तत्त्वम्, इति सम्यक्त्वं मया गृहीतम्।

एतस्य सम्यक्त्वस्य श्रमणोपासकैः पञ्च अतिचाराः प्रधानाः ज्ञातव्याः न
समाचरितव्याः, तद्यथा शंका काङ्क्षा विचिकित्सा परपाषण्डप्रशंसा
परपाषण्डसंस्तवः। यो मया दैवसिकः अतिचारः कृतः तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम्।

शब्दार्थ

अरहंतो महदेवो—अहंत् भगवान् मेरे देव हैं।
जावज्जीवं—जीवन पर्यन्त
सुसाहुणो गुरुणो—उत्तम साधु गुरु हैं।
जिणपणत्तं तत्तं—जिन-केवली प्ररूपित तत्त्व धर्म है
इय सम्मत्तं—इस सम्यक्त्व को
मए गहियं—मैंने ग्रहण किया है
एअस्स सम्मत्तस्स—इस सम्यक्त्व के

समणोवासएणं—श्रमणोपासक को
 पंच अइयारा—पांच अतिचार
 पेयाला—प्रधान
 जाणियव्वा—जानने चाहिये
 न समायरियव्वा—आचरण नहीं करना चाहिए।
 तं जहा—वे इस प्रकार हैं
 संका—केवली के वचनों में शंका करना
 कंखा—अवीतराग-कथित मार्ग की वांछा करना
 वितिगिच्छा—धर्म के फल में सन्देह करना
 परपासंडपसंसा—परपाषंड की प्रशंसा करना
 परपासंडसंथवो—परपाषंड का परिचय करना
 जो मे देवसियो अइयारो कओ—जो मैंने (इस सम्बन्ध में) दैवसिक
 अतिचार किया हो
 तस्स मिच्छामि दुक्कडं—उसका पाप मेरे लिए निष्फल हो।

भावार्थ

सम्यक्त्व

जैन दर्शन में सम्यक्त्व का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मोक्ष के चार मार्ग बतलाये गए हैं। उनमें इसका स्थान सबसे पहला है। वस्तुतः होना ही चाहिये। क्योंकि जब तक हमारा कोई एक निश्चित लक्ष्य नहीं बनता तब तक हम कुछ भी नहीं कर सकते।

सम्यक्त्व जैन दृष्टिकोण का स्थिर लक्ष्य या मध्य बिन्दु है। इसी के सहारे मुमुक्षु पुरुष आत्म-साधना की ओर अग्रसर होते हैं। कोई पुरुष आत्म-मुक्ति के लिए जो आचार पालना चाहे, उसमें उसका विश्वास ही नहीं, तो वह उस दिशा में सफल नहीं हो सकता। यह एक अकाट्य नियम है—हम वही काम करना चाहेंगे, जिसमें हमारी रुचि पैदा हुई है, जिसमें हमारा विश्वास है। इसके बिना प्रथम तो हम कोई काम कर ही नहीं सकते। यदि परिस्थितियों के कारण करना पड़े तो उसमें सफलता नहीं मिल सकती। अतएव सर्वप्रथम हमारा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि हम जो करना चाहें, उसमें पहले रुचि एवं विश्वास पैदा करें और बाद में उसमें जुट जाएं। सम्यक्त्व ठीक यही चीज है।

आत्म-साधक का जो सही लक्ष्य एवं सत्य में विश्वास है, वही सम्यक्त्व है। आत्म-साधक का लक्ष्य आत्म-मुक्ति होता है। अगर उसे आत्मा एवं मुक्ति में विश्वास न हो तो वह आत्म-साधना क्यों करे; इसलिए सर्वप्रथम आत्मादि तत्त्वों पर यथार्थ विश्वास होना चाहिये। इसके बाद आत्म-मुक्ति के जो उपाय हैं; जिन्हें धर्म कहते हैं, उन पर सही श्रद्धा होनी चाहिए। सब मनुष्य अपने आप इन तत्त्वों की असलियत तक पहुंच नहीं सकते। अतः इनका पथ-प्रदर्शन करने वाले साधुओं के प्रति भी आत्म-विश्वास होना जरूरी है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि देव, गुरु और धर्म के प्रति सच्ची श्रद्धा करना जरूरी है और वही सम्यक्त्व है। देव पर हमें विश्वास इसलिए करना होगा कि वह हमारी आत्म-साधना के मार्गदर्शक हैं। वे सदा जीवित नहीं रहते अतः उनके अनुगामी एवं उनके तत्त्वों की व्याख्या करने वाले शुद्धाचारी साधुओं पर विश्वास करना होगा जो हमारे धर्मगुरु होते हैं। धर्म आत्म-मुक्ति का साधन है; उस पर विश्वास होना तो स्वाभाविक है।

सम्यक्त्व सम्यग् ज्ञान एवं सम्यग् चरित्र की जड़ है। इसके बिना न तो सम्यग् ज्ञान हो सकता है, न सम्यग् चरित्र। सम्यक्त्व आत्म-साधना की पहली मंजिल है। इसको तय किये बिना दूसरी मंजिल (जो चरित्र की है) पर नहीं पहुंच सकते। इसका कारण यह है कि चरित्र का स्थान दूसरा है और सत्य-विश्वास का पहला। सत्य-विश्वास तो चरित्र के बिना भी हो सकता है परन्तु चरित्र उसके बिना नहीं हो सकता अतएव यह सिद्धान्त उपयुक्त है कि धर्माचरण में कोई समर्थ हो सके या नहीं, कम से कम सत्य-विश्वासी तो बने। सत्य-श्रद्धा होने से सदाचरणों में प्रवृत्त होना सुलभ हो जाता है।

देव

केवलज्ञानवानर्हन् देवः—शासन के अधिष्ठाता को देव कहते हैं। हमारे देव अर्हत्-तीर्थंकर हैं। हमें किसी व्यक्ति या नाम का पक्षपाती नहीं होना चाहिए। हम गुण के उपासक हैं। गुण की प्रतिष्ठा करना हमारा कर्तव्य है इसीलिए हम उसी महापुरुष को देव मानते हैं, जो अर्हत् हैं, राग-द्वेष रहित हैं और सत्य धर्म के प्रवर्तक हैं।

यथा—

सर्वज्ञो वीतरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः ।

यथास्थितार्थवादी च, देवोऽर्हन् परमेश्वरः ॥

जो सर्वज्ञ हैं, केवलज्ञान से सब पदार्थों को यथावत् जानते हैं, राग-द्वेष आदि दोषों का जिन्होंने क्षय कर डाला है, जो तीन लोक में पूजित हैं, जो यथार्थवादी हैं अर्थात् पदार्थों का जैसा स्वरूप है, वैसा ही उपदेश करते हैं, वे पुरुषोत्तम मनुष्य देव हैं, अर्हत् हैं, परमेश्वर हैं।

गुरु

महाव्रतधरः साधुर्गुरुः—देव-कथित धर्म की आराधना करने वाले तथा पांच महाव्रत पालने वाले निर्ग्रन्थ गुरु कहलाते हैं। यथा—

महाव्रतधरा वीरा, भैक्षमात्रोपजीविनः ।

सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरवो मताः ॥

महाव्रत धारण करने वाले, भिक्षा से जीवन निर्वाह करने वाले—शांत, दांत, धर्मोपदेशक, निर्ग्रन्थ हमारे गुरु हैं।

धर्म

आत्मशुद्धिसाधनं धर्मः—अर्हत्-भाषित सत्प्रवृत्ति और असत्-निवृत्ति रूप जो आत्मशुद्धि का साधन है, वही धर्म है।

अतिचार

इस प्रकार का सम्यक्त्व मैंने स्वीकार किया है। इस सम्यक्त्व के पांच अतिचार हैं। वे श्रावकों के लिए केवल जानने योग्य हैं, आचरण करने योग्य नहीं। ज्ञान और आचरण का यह कितना अन्तर है? अच्छी और बुरी सब वस्तुएं जानना ज्ञान का काम है। पर आचरण केवल हितकर वस्तुओं का ही होना चाहिए। अतएव तत्त्व ज्ञेय सब हैं और आदेय सिर्फ संवर, निर्जरा, मोक्ष—ये तीन ही हैं।

सम्यक्त्व के पांच अतिचार निम्न प्रकार हैं—

(१) शंका—सर्वज्ञ कथित तत्त्व में सन्देह करना। यथा—आत्मा नहीं है, परलोक नहीं है इत्यादि। शंका का अर्थ यह नहीं जान लेना चाहिए कि वस्तुस्थिति को समझने के लिए तर्क-वितर्क या विचार-विनिमय करना ही शंका नाम का अतिचार है।

मनुष्य जन्म-सिद्ध विद्वान् नहीं होता। जानकार होने का साधन विद्याध्ययन है। ऊहापोह शिक्षा का मुख्य अंग है। जिन वस्तुओं को हम यथावत् नहीं जानते, उनके विषय में शंका उठती है और उसका हम गुरु के

समक्ष समाधान करते हैं। इससे सम्यक्त्व का कोई विरोध नहीं है।

शंका से यहां हमारा तात्पर्य अविश्वास से है। गागर में सागर नहीं समा सकता। अल्पज्ञ मनुष्य सब पदार्थों को प्रत्यक्ष नहीं जान सकता। उसे चाहिए कि वह अपनी शक्ति के अनुसार पदार्थों को जानने की चेष्टा करे। इसके उपरान्त भी यदि कोई तत्त्व समझ में नहीं आये तो उस पर विश्वास करे। एक सूई के अग्रभाग तुल्य कन्द-मूल में अनन्त जीव होते हैं। यह तर्क सिद्ध है, सब कुछ है। किन्तु यदि कोई प्रत्यक्ष देखना चाहे तो यह प्रयास असफल होगा। इस दशा में उस मनुष्य को सर्वज्ञ के वचनों पर विश्वास रखना होगा। इस प्रक्रिया के विपरीत वह मनुष्य संदिग्ध रहे कि यह हो कैसे सकता है, यह हमारी समझ में नहीं आता अतः ऐसा नहीं होना चाहिए, इत्यादि विचार शंकातिचार के अंतर्गत हैं।

श्रीमद् भिक्षु स्वामी ने इसका बहुत सरल शब्दों में उपदेश दिया है—किसी साधु या श्रावक के कोई गूढ़ तत्त्व समझ में न आये तो वह उसकी गुरु के सामने चर्चा करे। ऐसा करने पर भी यदि वह अपनी बुद्धि में न समा सके तो उसे अपने को अल्प बुद्धि मानकर केवलीगम्य समझ ले, पर उस पर न तो हठ करे और न शंका करता रहे। वितण्डा के निवारण का यह सर्वोत्तम

मार्ग है।

७५५ ह।

(२) **कांक्षा**—जो धर्म वीतराग-कथित नहीं, पर सरल है, आनन्दपूर्वक भोगोपभोगों में रत रहने पर भी मुक्ति प्राप्त करा देने का दावा करता है, उसे स्वीकार करने की इच्छा करना कांक्षा नाम का दूसरा अतिचार है। भोग-विलास की ओर आत्मा की सहज ही गति रहती है और फिर धर्म के नाम से उपदेश मिल जाता है; तब फिर क्यों कोई त्याग-तपस्या का कष्ट उठाए? इस प्रकार के मोह प्रलोभनों में न फंसना और उनसे आकर्षित न होना ही सम्यक्त्व का आचार है।

(३) **विचिकित्सा**—त्याग, तपस्या आदि आचरणों के फल में सन्देह करना। मैं इतना धर्म करता हूँ, इसका मुझे फल मिलेगा या नहीं इत्यादि? इस प्रकार की शंकाओं से कई लोग धर्म भ्रष्ट हो जाते हैं। किन्तु उनको यह जानना चाहिए कि धर्म कभी निष्फल नहीं जाता, उसका फल अवश्य मिलता है। उससे हमारी आत्म-शुद्धि होगी और वही हमारे जीवन का सार है। उसकी आराधना हम धन-धान्य, ऐश्वर्य आदि फल की प्राप्ति के लिए नहीं करते। हमारा

लक्ष्य सिर्फ उसके सहारे मोक्ष प्राप्त करने का है। विचिकित्सा का दूसरा अर्थ घृणा है।

(४,५) *परपाषंडप्रशंसा एवं परपाषंडसंस्तव*—ये क्रमशः चौथे और पांचवें अतिचार हैं। इन दोनों का तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्वी की ऐसी प्रशंसा और उससे ऐसा परिचय नहीं करना चाहिए, जिससे अपने सम्यक्त्व में बाधा आ सके एवं मिथ्यात्व को प्रोत्साहन मिले।

गुण की प्रशंसा और गुण का परिचय निषिद्ध नहीं हो सकता। यह निषेध मिथ्या आचार-विचार को प्रसारित करने का है। इससे हमें यह शिक्षा मिलती है कि हम किसी भी तरह मिथ्यात्वी के प्रभाव में आकर या उसे प्रसन्न करने के लिए उसके मिथ्या आचार-विचार की प्रशंसा न करें। धार्मिक विचारों में हमारी सार्वभौम स्वतंत्रता का उपभोग करें।

अणुव्रतानि

(महाव्रत की अपेक्षा छोटे व्रत)

प्रथम अणुव्रत

अहिंसा

मूल पाठ

पढमं अणुव्वयं-थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं । तसजीवे बेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदिय-पंचिंदिय संकप्पओ हणण-हणावण-पचक्खाणं स-सरीर सविसेस-पीड़ाकारिणो स-संबंधि-सविसेस-पीड़ाकारिणो वा वज्जिरुण जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा । एयस्स थूलग-पाणाइवाय-वेरमणस्स समणोवासएणं पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा-१. बंधे २. वहे ३. छविच्छेए ४. अइभारे ५. भत्तपाणविच्छेए । जो मे देवसिओ अइआरो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

छाया

प्रथमं अणुव्रतं-स्थूलात् प्राणातिपाताद् विरमणं । त्रसजीवानाम् द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियाणाम् संकल्पतः हननघातनप्रत्याख्यानम् स्व-शरीर-सविशेष-पीड़ाकारिणः स्व-संबन्धि-सविशेष-पीड़ाकारिणः वा वर्जयित्वा यावज्जीवं द्विविधं त्रिविधेन (स्थूलहिंसां) न करोमि न कारयामि मनसा वचसा कायेन । एतस्य स्थूलक-प्राणातिपात-विरमणस्य श्रमणोपासकेन पञ्च अतिचाराः प्रधानाः ज्ञातव्याः न समाचरितव्याः, तद्यथा-१. बन्धः २. वधः ३. छविच्छेदः ४. अतिभारः ५. भक्तपान-विच्छेदः । यो मया दैवसिकः अतिचारः कृतः तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम् ।

शब्दार्थ

पढमं अणुव्वयं-प्रथम अणुव्रत

थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं—स्थूल प्राणातिपात जीव-हिंसा से
विरत होना

तसजीवे—त्रस जीव

बेइंदिय—द्वीन्द्रिय

तेइंदिय—त्रीन्द्रिय

चउरिन्दिय—चतुरिन्द्रिय

पंचिंदिय—पञ्चेन्द्रिय की

संकप्पओ—संकल्प पूर्वक

हणण—मारने का

हणावण—मरवाने का

पचक्खाणं—प्रत्याख्यान है

ससरीर—निज के शरीर को

सविसेस पीडाकारिणो वा—विशेष पीड़ा देने वाले को अथवा

स-संबंधि—अपने संबंधी जनों को

सविसेस पीडाकारिणो—विशेष पीड़ा देने वाले को

वज्जिऊण—वर्जकर

जावज्जीवाए—जीवन-पर्यन्त

दुविहं तिविहेणं—दो करण तीन योग से (स्थूल हिंसा)

न करेमि न कारवेमि—नहीं करूं, नहीं कराऊं

मणसा वयसा कायसा—मन से वचन से शरीर से

एयस्स—इस

थूलग पाणाइवाय वेरमणस्स—स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत के

समणोवासएणं—श्रमणोपासक के लिए

पंच अइयारा—पांच अतिचार

पेयाला—प्रधान

जाणियब्बा—जानने योग्य हैं

न समायरियब्बा—नहीं हैं आचरण करने योग्य

तंजहा—वे इस प्रकार हैं

१. बंधे—बांधना ।
 २. वहे—निर्दयता से मारना, पीटना
 ३. छविच्छेए—गहरा घाव करना, शरीर के अवयवों का छेद करना ।
 ४. अइभारे—अतिभार लादना
 ५. भक्तपाणविच्छेए—भक्त-पान का विच्छेद करना
- जो मे देवसिओ—जो मैंने दिन सम्बन्धी
अइयारो कअंओ—अतिचार किया हो तो
तस्स मिच्छामि दुक्कडं—उसका निष्फल हो पाप ।

भावार्थ

प्रथम अणुव्रत स्थूल प्राणातिपातविरमण—हे गुरुदेव ! मैं प्रथम अणुव्रत में स्थूल जीव-हिंसा से निवृत्त होता हूँ। मेरे निज के या मेरे सम्बन्धियों के अपराधियों को छोड़कर शेष सब स्थूल द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों की संकल्पपूर्वक (मारने की बुद्धि से) हिंसा करने एवं करवाने का प्रत्याख्यान करता हूँ। मैं जीवन पर्यन्त इनकी हिंसा, मनसा-वाचा-कर्मणा न करूँगा और न कराऊँगा ।

विवेचन

अणुव्रत

साधु और गृहस्थ का धर्म—मोक्ष साधना का पथ पृथग्-पृथग् नहीं है, एक ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि मुनि का साधना-पथ पूर्ण है और गृहस्थ का अपूर्ण। साधु के पांच महाव्रत हैं—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह। गृहस्थ के पांच अणुव्रत हैं—महाव्रत की अपेक्षा छोटे व्रत—स्थूल अहिंसा, स्थूल सत्य, स्थूल अचौर्य, स्थूल ब्रह्मचर्य, स्थूल अपरिग्रह। शेष सात व्रत तो इनको ही पुष्ट करने वाले हैं।

प्राणातिपात

आत्मा अमर है। उसकी मृत्यु नहीं होती। यह सर्व साधारण में प्रसिद्ध है। पर तत्त्वदृष्टि से यह चिन्तनीय है। चूंकि आत्मा एकान्त नित्य नहीं—परिणामी-नित्य है। अर्थात् उत्पाद-व्यय सहित नित्य है। केवल आत्मा ही क्या, विश्व के

समस्त पदार्थों का यही स्वरूप है। कोई भी पदार्थ केवल नित्य या केवल अनित्य नहीं हो सकता। सभी पदार्थ अपने रूप का त्याग न करने के कारण नित्य हैं और नाना प्रकार की अवस्थाओं को प्राप्त होते रहने के कारण अनित्य हैं। या यों कहिये कि द्रव्यरूप में सब पदार्थ नित्य हैं और पर्याय रूप में अनित्य हैं।

नित्य का फलितार्थ है—अपने रूप को न त्यागना। अनित्य का फलितार्थ है—क्रमशः एक-एक अवस्था को छोड़ते रहना और दूसरी-दूसरी अवस्था को पाते रहना। आत्मा अपने स्वरूप को नहीं त्यागती, अतः नित्य है—अमर है और एक शरीर को छोड़ती है, दूसरे को पाती है, इत्यादि अवस्थाओं से अनित्य है—उसकी मृत्यु होती है। आत्मा की प्राण-शक्तियों का शरीर के साथ सम्बन्ध होता है, उसका नाम जन्म है और उनका शरीर से वियोग होने का नाम मृत्यु है। जन्म और मृत्यु ये दोनों आत्मा की अवस्थाएं हैं। मृत्यु से आत्मा का अत्यन्त नाश नहीं होता। केवल उसकी अवस्था का परिवर्तन होता है। यथा—

‘जीव जीवे अनादिकाल हो, मरे तिणरी हो पर्याय पलटी जाण ।’^१

इसलिए शरीर के वियोग होने से आत्मा की मृत्यु नहीं होती—यह कहने में हमें कोई संकोच नहीं होना चाहिए।

प्राण शक्तियां दस हैं—

पांच इन्द्रिय प्राण—१. श्रोत्रेन्द्रिय प्राण २. चक्षुरिन्द्रिय प्राण ३. घ्राणेन्द्रिय प्राण ४. रसनेन्द्रिय प्राण ५. स्पर्शनेन्द्रिय प्राण। ६. मनोबल प्राण ७. वचनबल प्राण ८. कायबल प्राण ९. श्वासोच्छ्वास प्राण १०. आयुष्य प्राण।

राग-द्वेष प्रमादात्मक प्रवृत्ति से इनका शरीर से अतिपात—वियोग करने का नाम प्राणातिपात-हिंसा है। अथवा आत्मा की जितनी असत्प्रवृत्ति है, वह सब हिंसा है। अतएव हिंसा वस्तुतः अपनी असत्प्रवृत्ति पर ही निर्भर है।

हिंसा के प्रकार

प्राण शक्तियों का शरीर से सर्वथा वियोग करना सर्व हिंसा है और उन्हें कष्ट देना देश-हिंसा है—आंशिक हिंसा है।

सूक्ष्म जीव—एकेन्द्रिय की हिंसा करना सूक्ष्म हिंसा है।

स्थूल जीव—द्वीन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक की हिंसा करना स्थूल हिंसा है।

१. श्री भिक्षु स्वामी।

खाने-पीने में, भोजन पकाने में, व्यापार करने में, खेती करने में, मकान बनाने आदि-आदि कार्यों में होने वाली हिंसा आरम्भजा हिंसा है।

बिना प्रयोजन संकल्पपूर्वक हिंसा करना संकल्पजा हिंसा है।

अपराध करने वाले को मारना अपराधी हिंसा है।

बिना अपराध किये मार डालना निरपराध हिंसा है।

अपराध की आशंका से मार डालना सापेक्ष हिंसा है।

अपराध की आशंका के बिना ही मार डालना निरपेक्ष हिंसा है।

अहिंसा

अहिंसा हिंसा का विरोधी शब्द है। इसका शाब्दिक अर्थ यही है कि हिंसा नहीं करना। परन्तु परिभाषा में केवल निषेध का ही अर्थ ग्रहण नहीं करना चाहिए। परिभाषा के रूप में अहिंसा का अर्थ क्रियात्मक है।

‘सर्वथा सर्वजीवेष्वजिघांसुवृत्तिरहिंसा।’

अहिंसा में दया के सारे भाव भरे हैं। प्राणीमात्र को मैत्री का अमोघ दान देना अहिंसा है और वही महान् दया है। दया विधेयात्मक शब्द है। इसका शब्दानुसारी अर्थ है—जीवों की रक्षा करना। नहीं मारने से जीवों की रक्षा सहज ही हो जाती है। इसी आशय से श्री भिक्षु स्वामी ने फरमाया है—‘नहीं मारे हो, ते दया गुणखान।’—अहिंसा ही शुद्ध दया है। अहिंसा ही अभयदान है।

समता

अहिंसा का लक्षण है समता। असमता से अहिंसा का विरोध है। अहिंसा में मनुष्य की रक्षा और अन्य प्राणियों की उपेक्षा करने का उपदेश आदेय नहीं हो सकता। मनुष्य हमारे जैसा है, मनुष्य अधिक बुद्धिमान है, अन्य दार्शनिकों के शब्दों में ‘ईश्वर ने मनुष्य को बुद्धि दी है, जो मनुष्येतर प्राणियों को नहीं दी’, इत्यादि विचारों से मनुष्य से भिन्न वराक जीवों का निर्घृण—नाश करना अहिंसा पथ से च्युत होना है। हिंसा हिंसा ही रहेगी, चाहे एकेन्द्रिय की भी क्यों न हो? हिंसा क्षम्य नहीं हो सकती। कार्यवश की जाने वाली हिंसा हिंसा ही है। हिंसा की जितनी विरति होती है, वह अहिंसा है। यह नहीं माना जा सकता कि गृहवास में रहता हुआ मनुष्य पूर्ण अहिंसक हो सकता है। गृहवास का जीवन हिंसामय है। उसमें तो जितनी विरति की जाए, वह अहिंसा है।

श्रावक और अहिंसा

मुनि की अहिंसा पूर्ण है। श्रावक की अहिंसा अपूर्ण है। मुनि की तरह श्रावक सब प्रकार की हिंसा से मुक्त नहीं रह सकता। मुनि की अपेक्षा श्रावक की अहिंसा का परिमाण बहुत कम है। उदाहरण के रूप में मुनि की अहिंसा बीस बिस्वा^१ है तो श्रावक की अहिंसा सवा बिस्वा है।

इसका कारण यह है कि श्रावक त्रस जीव की हिंसा को छोड़ सकता है, बादर-स्थावर^२ जीवों की हिंसा को नहीं। इससे उसकी अहिंसा का परिमाण आधा रह जाता है, दस बिस्वा रह जाता है। इसमें भी श्रावक त्रस जीवों की संकल्पपूर्वक हिंसा का त्याग करता है, आरम्भजा हिंसा का नहीं। अतः इसका परिमाण उससे भी आधा अर्थात् पांच बिस्वा रह जाता है।

इरादापूर्वक हिंसा भी उन्हीं त्रस जीवों की त्यागी जाती है, जो निरपराधी हैं। सापराधी त्रस जीवों की हिंसा से श्रावक मुक्त नहीं हो सकता। इससे वह अहिंसा अढाई बिस्वा रह जाती है।

निरपराध त्रस जीवों की भी निरपेक्ष हिंसा को श्रावक त्यागता है। सापेक्ष हिंसा तो उससे हो जाती है। इस प्रकार श्रावक की अहिंसा का परिमाण सवा बिस्वा रह जाता है। एक प्राचीन गाथा में इसे संक्षेप में कहा है—

जीवा सुहुमाथूला, संकप्पा, आरम्भा भवे दुविहा।

सावराहा निरवराहा, सावेक्खा चेव निरवेक्खा॥

अर्थ—१. सूक्ष्म जीव हिंसा, २. स्थूल जीव हिंसा, ३. संकल्पजा हिंसा, ४. आरम्भजा हिंसा, ५. सापराध हिंसा, ६. निरपराध हिंसा, ७. सापेक्ष हिंसा, ८. निरपेक्ष हिंसा—हिंसा के ये आठ प्रकार हैं। श्रावक इनमें से चार प्रकार की (१,३,६,८) हिंसा का त्याग करता है। अतः श्रावक की अहिंसा अपूर्ण है।

स्थावर अहिंसा

स्थावर जीव दो प्रकार के होते हैं। १. सूक्ष्म स्थावर और २. बादर स्थावर।

सूक्ष्म स्थावर इतने सूक्ष्म होते हैं कि वे किसी के योग से नहीं मरते हैं। अतएव उनकी हिंसा का त्याग श्रावक को अवश्य कर देना चाहिए।

१. पूर्ण अहिंसा के बीस अंश हैं; उनमें से श्रावक की अहिंसा का सवा अंश है।

२. पृथ्वी, पानी, अग्नि, हवा, वनस्पति।

बादर स्थावर की हिंसा का पहले अणुव्रत में निर्देश नहीं किया है। चूंकि श्रावक बादर स्थावर जीवों की सार्थ (अर्थ सहित) हिंसा का त्याग कर नहीं सकता। गृहवास में इस प्रकार की सूक्ष्म हिंसा का प्रतिषेध अशक्य है। शरीर, कुटुम्ब आदि के निर्वाहार्थ श्रावक को यह करनी पड़ती है। तथापि इनकी निरर्थक हिंसा का त्याग तो श्रावक को अवश्य ही करना चाहिए।

निरर्थिकां न कुर्वीत, जीवेषु स्थावरेष्वपि।
हिंसामहिंसधर्मज्ञः कांक्षन्मोक्षमुपासकः ॥

मोक्षाभिलाषी अहिंसा मर्मज्ञ श्रावक को स्थावर जीवों की भी निरर्थक हिंसा नहीं करनी चाहिए। अहिंसा धर्म सावधानी में है, विभ्रान्ति में नहीं।

अहिंसा का प्राधान्य

बारह व्रतों में अहिंसा व्रत सबसे प्रधान है। अतएव सर्वप्रथम इसका उपदेश प्राप्त है। अहिंसा से सब व्रतों का समन्वय है। शेष व्रत इसकी शृंखला से बद्ध हैं। इसकी मर्यादा सर्वत्र अनुल्लंघनीय है। यह सबमें व्याप्त है।

पूर्ववर्ती आचार्यों ने यहां तक लिखा है—तीर्थकरों ने केवल अहिंसा का ही उपदेश दिया है—‘अवसेसा तस्स रक्खद्धा।’ शेष व्रत तो उसकी रक्षा के लिए बतलाए हैं। अहिंसा व्रत एक राजा है तो शेष सब उसके सैनिक हैं। अहिंसा व्रत एक धान भरा खेत है तो बाकी के सब उसकी सुरक्षा के लिए बाड़ हैं। इसके बारे में जितना कहा जा सके उतना ही उचित है। जैन धर्म की मूल भित्ति, जीवन-प्राण जो कुछ है, वह सब अहिंसा ही है।

वर्तमान समस्या

अहिंसा का प्रयोग एक बड़ी विकट समस्या है। गृहस्थ को अहिंसा का उपयोग किस जगह और किस दशा में करना चाहिए, इसके बारे में अनेक मत हैं। कई कहते हैं कि हमें सब जगह अहिंसा का प्रयोग करना चाहिए। इसके बिना हम किसी भी क्षेत्र में आगे नहीं बढ़ सकते। हमारे जीवन में जो कुछ सार वस्तु है वह अहिंसा ही है। अहिंसा का आदर हमारा आदर है और उसकी उपेक्षा हमारी उपेक्षा। दूसरे इसके प्रतिकूल सिंहगर्जना करते हैं—अहिंसा^१ और अहिंसा के उपदेशकों ने हमारा सर्वस्व छीन लिया। हमारे स्वत्व का नाश कर डाला।

१. यह टीका विदेशी शासन काल में की गई थी, इसीलिए लेखक ने भारत की परतंत्रता का उल्लेख किया है।

अहिंसा अहिंसा की रट में हम दास बन गये। देश को गुलाम बना दिया। हम आज परतन्त्र हैं, मुहताज हैं, त्रिवशता की बेड़ियों से जकड़े हुए हैं। आज दुनिया में हमारा कोई सम्मान नहीं, कोई स्थान नहीं, हमारी कोई आवाज नहीं, हम नगण्य हैं। आज हम कुछ नहीं कर सकते। गुलामों का क्या धर्म? दासत्व से मुक्ति पाये बिना क्या अहिंसा? इस दशा में हम अहिंसा को बर्दाश्त नहीं कर सकते। अहिंसा का स्वागत उसी दिन करेंगे जिस दिन हम हमारे पैरों पर खड़े हो जाएंगे, अन्यथा नहीं।

इस प्रकार के विषम विचारों का जैन दर्शन अनेकान्त दृष्टि से किस प्रकार समन्वय करता है, वह भी हमारे मनन का विषय है। हमें सब का सार लेना है और असार को त्यागना है। इस पद्धति से ही हम सत्य को देख सकेंगे। जैन दर्शन के अनुसार गृहस्थ के विचारों का केन्द्र मुनि की तरह केवल धार्मिक क्षेत्र ही नहीं है। राजनैतिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में भी उसकी गति अबाध होती है। उनकी मर्यादा का उचित ध्यान रखे बिना उसके गृहस्थ-सम्बन्धी औचित्य का निर्वाह नहीं हो सकता। अतः गृहस्थ के कार्यक्षेत्र हिंसात्मक और अहिंसात्मक दोनों ही हैं। वर्तमान के राजनैतिक वातावरण में अहिंसा को पल्लवित करने की चेष्टा की जा रही है। यह कोई नई बात नहीं। इसमें कोई आश्चर्य नहीं। अहिंसा का प्रयोग प्रत्येक क्षेत्र में किया जा सकता है। उसका क्षेत्र कोई पृथक् निर्वाचित नहीं है। वह सर्वथा स्वतंत्र है। सत्प्रवृत्ति और निवृत्ति में उसका एकाधिकार आधिपत्य है। जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं में भी अहिंसा प्रयोज्य है। खाने पीने में भी अहिंसा का ख्याल रखना लाभप्रद है। पर हिंसा और अहिंसा का विवेक यथावत् होना चाहिये; अन्यथा दोनों का सम्मिश्रण लाभ के बदले हानिकारक हो जाता है।

भगवान् महावीर का उपासक तत्कालीन राजा चेटक विशाला के राज्य का सूत्रधार और गणतंत्र का प्रमुख था। भगवान् की अमोघ वाणी से उसने अहिंसा का अमूल्य पाठ सीखा था। निरपराधी जीवों के प्रति उसकी भावना में दया का प्रवाह था। वह तो श्रावकत्व का सूचक है ही, किन्तु सापराध प्राणी भी उसके सफल बाण से एक दिन में एक से अधिक मृत्यु का आलिंगन नहीं कर पाते थे। इतना मनोबल सर्व साधारण में हो सकता है, यह संभव नहीं।

व्रत विधान सर्व साधारण को अहिंसा की ओर प्रेरित करने के लिए है। अतः इसका विधान सार्वजनिकता के दृष्टिकोण से सर्वथा समुचित है। इसमें

अहिंसा का परिमाण यह बताया गया है कि श्रावक निरपराध त्रस प्राणी (न केवल मनुष्य) को मारने की बुद्धि से नहीं मारता। यह अहिंसा का मध्यम मार्ग है। गृहस्थ के लिए उपयोगी है। इसमें न तो गृहस्थ के औचित्य संरक्षण में बाधा आती है और न व्यर्थ हिंसा करने की राक्षसी वृत्ति भी प्रोत्साहित हो पाती है। यदि हिंसा का बिल्कुल त्याग न करे तो मनुष्य राक्षस बन जाता है और वह हिंसा को सर्वथा त्याग दे तो गृहस्थपन नहीं चल सकता। इस परिस्थिति में यह मध्यम मार्ग श्रावक के लिए अधिक श्रेयस्कर है। इसका अर्थ यह नहीं कि गृहस्थ इस हद के उपरान्त हिंसा का त्याग कर ही नहीं सकता। यदि किसी गृहस्थ में अधिक साहस हो, अधिक मनोबल हो तो वह सापराध और निरपराध दोनों की हिंसा का त्याग कर सकता है। पर सर्व साधारण में कहां इतना मनोबल, कहां इतना धैर्य और कहां इतना साहस कि वह अपराधी को भी क्षमा कर सके? हिंसक बल के सामने अपने भौतिक अधिकारों की रक्षा कर सके? नीतिभ्रष्ट लोगों से अपने स्वत्व को बचा सके? अहिंसा का प्रयोग प्रधानतः आत्मा की शुद्धि के लिए है। राज्य आदि कार्यों में हिंसा से जितना बचाव हो सके, उतना बचाव करे, यह राजनीति में अहिंसा का प्रयोग है। किन्तु जो बल आदि का व्यवहार होता है, वह हिंसा ही है। अहिंसा आत्म-साधना में है, भौतिक सुख-साधना में नहीं।

दूसरी विचारधारा के अनुसार अहिंसा से देश का पतन हुआ, यह सत्य से अछूता है। देश की अवनति पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष, कलह आदि से हुई है न कि अहिंसा से। अहिंसा एकमात्र उत्थान का साधन है, पतन का नहीं। अहिंसा मनोबल है। इससे कायरता का नाश होता है। यह वीरत्व का द्वार है। अनजान आदमी ही यह कह सकता है कि अहिंसा ने हमें कायर बना दिया। जानकार यह कभी नहीं मान सकता। अहिंसा और बुझदिली का सम्बन्ध ही क्या? अहिंसक सबको अभय दान देता है, उससे किसी को भय नहीं होता। जहां भय नहीं, वहां कायरता कैसे? कायरता भयजन्य है। अभय और आतंक का जन्मजात विरोध है। जो केवल तलवार के बल पर ही रहता है वह तलवार से ही परास्त होता है। उसका बल दूसरों के लिए आतंक है और दूसरों का उसके लिए। अणुबम इस प्रतिस्पर्धा का ही फल है। यही तो विश्व अशांति का चक्र है।

अहिंसा का मार्ग प्रशस्त है, इसमें प्रतिस्पर्धा और द्वेष को स्थान नहीं। अहिंसा ही एकमात्र ऐसा सत्य तत्त्व है जो समूचे विश्व के प्राणियों को मैत्री की

एक शृंखला में पिरो सकता है। आर्य मनुष्य भी म्लेच्छों की तरह यदि हिंसा को अपनी दृष्टि का वेध बना लेंगे तो फिर आर्य और म्लेच्छों की भेद-रेखा ही क्या होगी? आर्यत्व और म्लेच्छत्व का विभाजक मुख्यरूपेण आचरण ही होता है। म्लेच्छ की भावनाएं हिंसा प्रधान होती हैं और आर्य की भावनाएं अहिंसा प्रधान। म्लेच्छ हिंसा करने को उत्सुक रहता है। आर्य को कार्यवश हिंसा करनी पड़े तो भी वह उसे हिंसा ही समझता है, वह हिंसा के लिए अपने को विवश मानता है। जैसे ऐतिहासिक युग में बहुत से आर्य श्रावक-राजा अहिंसा-रत थे। उनके पास सैन्य बल था, हिंसा के सब साधन थे, सब कुछ था, पर वे उसे राज्य मर्यादा के औचित्य का संरक्षण मानते थे। जनपद की रक्षा के लिए उसका प्रयोग भी करते थे। बाहरी आक्रमणों को रोकते भी थे। पर उस सामर्थ्य से किसी दूसरे को व्यर्थ संतप्त करना उनका काम नहीं था। यदि आज के मनुष्य भी अहिंसा की अवहेलना कर हिंसा को प्रधानता देंगे तो अपने आपको म्लेच्छ होने से कैसे रोक सकेंगे?

गृहस्थावास में हिंसा की अनिवार्यता को जानते हुए भी जो मनुष्य अहिंसा की उपादेयता को मान्य समझेंगे, वे ही अपने आर्यत्व की रक्षा करने में समर्थ हो सकेंगे। इससे कोई यह भी न समझ ले कि अहिंसा सर्वत्र उपादेय या प्रयोज्य नहीं है। अहिंसा का स्वरूप सब जगह समान है, पर वह पूर्ण रूप से तभी सफल हो सकता है जबकि अहिंसा का प्रभाव सारे विश्व में फैल चुका हो। हिंसक शक्तियों के सामने अहिंसा आत्म-स्वत्व बचा सकती है, भौतिक स्वत्व को नहीं। भौतिक स्वत्व की रक्षा में उद्यत गृहस्थ सर्वत्र अहिंसा का प्रयोग नहीं कर सकते। यदि सब जगह उन्हें अहिंसा का पालन करना है तो भौतिक अधिकारों को उन्हें तिलांजलि देनी होगी, इससे विपरीत कार्य में अहिंसा को। भौतिक रक्षण और अहिंसा इन दोनों का संतुलन नहीं हो सकता।

अतिचार

इस व्रत के पांच अतिचार हैं। श्रावकों को इनका वर्जन करना चाहिए।

१. बन्ध—क्रोधादिवश मनुष्य या तिर्यच को गाढ़े बन्धन से नहीं बांधना चाहिये।

२. वध—क्रोधादिवश मनुष्य या तिर्यच के लाठी आदि से गहरे घाव नहीं करने चाहिए, कोड़े आदि से मारना पीटना नहीं चाहिये।

३. छविच्छेद—क्रोधादिवश मनुष्य या तिर्यच के शरीर के अवयवों का छेदन नहीं करना चाहिए।

बन्ध, वध और छविच्छेद—इन तीनों के दो-दो भेद होते हैं—सापेक्ष और निरपेक्ष। जैसे गाय, भैंस आदि को उनकी रक्षा के निमित्त बांधना सापेक्ष बन्ध है और क्रोधादिवश गाढ़ बन्धन से बांध देना निरपेक्ष बन्ध है। आवश्यकता होने पर मर्म स्थान पर चोट न लगाते हुए, उनके हित की रक्षा करते हुए मारना सापेक्ष वध है और क्रोधादिवश मारना निरपेक्ष वध है। प्रयोजन से रोग-चिकित्सा के निमित्त अंगोपांग काटना सापेक्ष छविच्छेद है। क्रोधादिवश अवयव-छेद करना निरपेक्ष छविच्छेद है। श्रावक के निरपेक्ष बन्ध, वध और छविच्छेद अतिचार हैं, सापेक्ष नहीं।

४. अतिभार—क्रोधवश, लोभवश ऊंट, घोड़ा आदि भार ढोने वाले पशुओं पर उनकी शक्ति से अधिक (प्रमाणातिरेक) भार नहीं लादना चाहिये।

५. भक्तपान-विच्छेद—क्रोधवश या लोभवश अपने आश्रित प्राणियों के खाने-पीने में रुकावट नहीं डालनी चाहिये। नियत समय पर वेतन नहीं देना, बिना कारण किसी जीव का नाश करना, नियत समय पर छुट्टी नहीं देना, हल, गाड़ी वगैरह से बैलों को नियत समय पर नहीं छोड़ना आदि इस अतिचार के अन्तर्गत हैं। रोग निवृत्ति निमित्त आदि प्रयोजन से आहार पानी नहीं देना श्रावक के अतिचार नहीं हैं।

आलोचना—इनसे कोई पाप लगा हो तो वह मेरे लिए निष्फल हो।

व्रत मर्यादा भंग

व्रत की मर्यादा भंग करने के चार प्रकार हैं—अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार। ये चारों ही त्याज्य हैं। त्यागे हुए कार्य को करने का विचार करना अतिक्रम है। उस कार्य की पूर्ति के लिए साधन एकत्रित करना व्यतिक्रम है। व्रत भंग की तैयारी कर रखी है, परन्तु जब तक भंग नहीं किये, तब तक अतिचार है अथवा व्रत की अपेक्षा रखते हुए कुछ अंश में व्रत का भंग करना अतिचार है। व्रत की अपेक्षा न रखते हुए संकल्पपूर्वक व्रत भंग करना अनाचार है।

अतिचार क्यों?

इस व्रत में श्रावक निरपराध त्रस जीव को मारने की चेष्टा से मारने का

त्याग करता है, इस दशा में बन्ध आदि अतिचार क्यों?¹

इसका समाधान इस प्रकार है—यह सत्य है कि पहले व्रत में श्रावक के सर्व हिंसा (प्राण विच्छेद) का त्याग होता है, बंध आदि का नहीं। तथापि बन्ध, वध आदि सर्व हिंसा के उपाय हैं, अतः परमार्थ रूप से इनको भी त्याग रूप ही समझना चाहिये। इसके साथ-साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि यदि संकल्पपूर्वक, व्रतों की अपेक्षा किये बिना अतिचारों का सेवन किया जाए तो वह अनाचार सेवन ही है, व्रतभंग का कारण ही है।

अतिचार से व्रत का सर्वथा भंग नहीं होता, देश भंग (आंशिक भंग) होता है। व्रत का पालन दो तरह से होता है—अन्तर्वृत्ति से और बहिर्वृत्ति से। व्रती गृहस्थ मारने की बुद्धि के बिना क्रोध में तत्पर होकर प्राणी के प्राणों की परवाह न करता हुआ बन्धन आदि में वर्तता है, उससे प्राणी की मृत्यु न हो तो भी वह व्रत की अपेक्षा रखे बिना निर्दय भावना से वर्तता है, अतः अन्तर्वृत्ति से उसके व्रत का भंग होता है और उस प्राणी की मृत्यु नहीं होती है, अतः बहिर्वृत्ति से व्रत का पालन होता है।

अतिचार संख्या

अतिचार संख्या में पांच हैं। यह गणना मुख्य रूप से है। इयत्ता का निर्धारण लक्षण बताने के लिए होता है। इसके अनुसार अन्य भी स्वयं जान लेने चाहिये। जिन-जिन कार्यों से प्राणातिपात विरमण व्रत के भंग होने की संभावना हो, वे सब इस व्रत के अतिचार हैं। अतिचार का स्वरूप शेष सभी व्रतों में इसी के अनुसार ज्ञातव्य है।

परिशिष्ट

धर्म से समाज का क्या सम्बन्ध है? इस पर विचार करने के लिए व्रतों का स्वरूप दिखलाना आवश्यक प्रतीत होता है। इसमें यह दिखलाने का प्रयत्न किया जाएगा कि व्रत परम्परा के आधार पर आध्यात्मिक जीवन से मनुष्य अपने सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन को भी कितना उन्नत बना सकता है।

पहला अणुव्रत हमें अहिंसा का उपदेश करता है। अहिंसा की भित्ति पर

१. न मारयामीति कृतव्रतस्य, विनैव मृत्युं क इहातिचारः ।

निगद्यते यः कुपितो वधादीन्, करोति स्यान्नियमानपेक्षः ॥१॥

मृत्योरभावान्नियमोस्ति तस्य, कोपाद् दयाहीनतया तु भग्नः ।

देशस्य भङ्गादनुपालनाच्च, पूज्या अतीचारमुदाहरन्ति ॥२॥

खड़े रहकर हम विश्व को मित्र बना सकते हैं। सबके प्रति हम विश्वास के पात्र बन सकते हैं और हम सबका विश्वास प्राप्त कर सकते हैं।

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'^१ के सिद्धान्त को हम नहीं भूलें।

सव्वे जीवा पियाउया, सुहाउया, सुहसाया दुहपडिकूला।^२

सव्वे जीवा वि इच्छन्ति जीविउं न मरीज्जिउं॥

इस प्रकार के विचारों की सरिता का प्रवाह हमारे हृदय को सींचता रहे तो हम निःसन्देह एक आदर्श जीवन बिता सकते हैं। यह सही बात है कि धर्म का लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है। धर्म का मुख्य फल वही है पर आनुषंगिक फल के रूप में समाज और देश का सुधार सहज ही हो जाता है। यह विषय बहुत लम्बा है और इस पर बहुत कुछ लिखा जा सकता है। किन्तु इस समय सिर्फ प्रतिक्रमण सम्बन्धी मुख्य-मुख्य विषयों पर प्रकाश डालना है। इसलिए यहां केवल संक्षिप्त उदाहरण के रूप में कई बातों को सामने रखना चाहूंगा। उसके अनुसार विज्ञ-पाठक स्वयं उसके महत्त्व को हृदयंगम कर लेंगे।

अहिंसा व्रत निरपराध त्रस जीवों को न मारने का आदेश देता है। मारना, पीटना, अंगोंपांगों को छेद देना आदि आदि पाशविक कार्यों से बचना सिखलाता है। मूक प्राणियों के प्रति निर्दयता से किये जाने वाले प्रहार, अधिक भार ढोना, न चलने पर उन्हें बुरी तरह ताड़ना आदि-आदि अत्याचारों का निषेध करता है, जिसके लिए सरकार को कानून बनाना पड़ा है। लोभ के वश मुनीम गुमाशतों से काम कराते रहना, चाहे उनका खाने-पीने का समय कब ही क्यों न बीत चुका हो, ऐसे आचरणों का प्रतिबन्ध करता है। जबकि सरकार ने अब कहीं-कहीं (भारत में) कानून बना कर इसे रोका है। इस व्रत का काम हृदय की क्रूरता का नाश करना है, जो कि सब अवगुणों का कारण है।

१. जो काम आत्मा के लिए प्रतिकूल हैं वे दूसरों के लिए भी न करें।

२. सब जीवों को जीवन प्रिय है, सब सुख के इच्छुक हैं, दुःख के प्रतिकूल हैं। सब जीव जीना चाहते हैं, मरना नहीं। अतः घोर प्राणि वध को वर्जना चाहिए।

दूसरा अणुव्रत

सत्य

मूल पाठ

बीयं अणुव्वयं थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं। सेय मुसावाए पंचविहे पन्नत्ते, तंजहा-१. कन्नालीए २. गवालीए ३. भोमालीए ४. नासावहारे ५. कूडसक्खिज्जे। इच्चेवमाइस्स थूलमुसावायस्स पच्चक्खाणं जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा। एयस्स बीयस्स थूलग-मुसावाय-वेरमणस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तंजहा-१. सहसाभक्खाणे २. रहस्स-भक्खाणे ३. सदारमंतभेए ४. मोसोवएसे ५. कूडलेहकरणे। जो मे देवसिओ अइआरो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

छाया

द्वितीयं अणुव्रतं-स्थूलाद् मृषावादाद् विरमणं। स च मृषावादः पञ्चविधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा १. कन्यालीकम् २. गवालीकम् ३. भूम्यलीकम् ४. न्यासोपहारः ५. कूटसाक्ष्यम्। इत्येवमादेः स्थूलमृषावादस्य प्रत्याख्यानं यावज्जीवं द्विविधं त्रिविधेन न करोमि न कारयामि मनसा वचसा कायेन। एतस्य द्वितीयस्य स्थूलक-मृषावादविरमणस्य श्रमणोपासकेन पञ्च अतिचाराः ज्ञातव्याः न समाचरितव्याः, तद्यथा १. सहसाऽभ्याख्यानं २. रहस्याऽभ्याख्यानं ३. स्वदारमन्त्र-भेदः ४. मृषोपदेशः ५. कूटलेखकरणं। यो मया दैवसिकः अतिचारः कृतः तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम्।

शब्दार्थ

बीयं अणुव्वयं-दूसरा अणुव्रत

थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं-स्थूल मृषावाद से विरमण करना।

सेय मुसावाए—वह मृषावाद
 पंचविहे पन्नत्ते—पांच प्रकार का प्रज्ञप्त है।
 तंजहा—जैसे—
 कन्नालीए—कन्यालीक (कन्या सम्बन्धी झूठ)
 गवालीए—गवालीक (गाय सम्बन्धी झूठ)
 भोमालीए—भूम्यलीक (भूमि सम्बन्धी झूठ)
 नासावहारे—न्यासापहार (धरोहर सम्बन्धी झूठ)
 कूडसक्खिज्जे—झूठी साक्षी (झूठी गवाही)
 इच्चेवमाइस्स—इत्यादिक
 थूलमुसावायस्स पच्चक्ख्खाणं—स्थूल मृषावाद का प्रत्याख्यान
 जावज्जीवाए—जीवन पर्यन्त
 दुविहं तिविहेणं—दो करण तीन योग से
 न करेमि—न करुं (न बोलूं)
 न कारवेमि—न कराऊं (न बोलाऊं)
 मणसा वयसा कायसा—मन से वचन से काया से
 एयस्स बीयस्स—इस द्वितीय
 थूलगमुसावायवेरमणस्स—स्थूल मृषावाद विरमणव्रत के
 समणोवासएणं—श्रमणोपासक के लिए
 पंच अइयारा जाणियव्वा—पांच अतिचार ज्ञातव्य हैं,
 न समायरियव्वा—आचरणीय नहीं हैं
 तंजहा—वे इस प्रकार हैं—
 सहसाभक्ख्खाणे—यकायक बिना सोचे-विचारे किसी पर कलंक लगाना
 रहस्साभक्ख्खाणे—रहस्य की बातें करते देखकर कलंक लगाना
 सदारमंतभेए—स्त्री के मर्म को प्रकट करना
 मोसोवएसे—मिथ्या उपदेश देना
 कूडलेहकरणे—झूठे लेख लिखना।
 जो मे देवसिओ—जो मैंने दिन सम्बन्धी
 अइयारो कओ—अतिचार किया हो तो
 तस्स मिच्छामि दुक्कडं—उसका निष्फल हो पाप।

भावार्थ

गुरुदेव! मैं दूसरे अणुव्रत में स्थूल मृषावाद से निवृत्त होता हूँ। मैं जीवन पर्यन्त कन्यालीक प्रमुख पांच प्रकार का झूठ बोलने का दो करण तीन योग से प्रत्याख्यान करता हूँ। मैं आज से इस प्रकार का असत्य वचन मनसा, वाचा, कर्मणा न बोलूंगा और न बोलाऊंगा।

विवेचन

मृषावाद

'असद्भावोद्भावनमनृतम्'—बिना किसी अपेक्षा के असद् भाव (जो जिस प्रकार नहीं है) को सद्भाव के रूप में दिखाने का नाम असत्य है। असत्य का सम्बन्ध मन, वचन और शरीर—इन तीनों से है। मन और शरीर की अपेक्षा वाणी में भावों को प्रगट करने की क्षमता अधिक है। अतः असत्य का नाम मुख्यरूप से मृषावाद (असत्य बोलना) रखा गया है। एक असत्य भाव का मन से चिन्तन करना मानस असत्य है, वाणी से कहना वाचिक असत्य है, शरीर की चेष्टाओं से व्यक्त करना शारीरिक असत्य है।

स्थूल मृषावाद विरति

असत्य सभी त्याज्य हैं, चाहे वह छोटा हो या बड़ा। असत्य को कोई भी उपादेय नहीं बतला सकता। यह मुनि का आचरण है। श्रावक का एक सिद्धान्त है। श्रावक के सिद्धान्त और आचरण का संतुलन नहीं हो सकता। सम्यक् श्रद्धा और सम्यक् आचरण एक नहीं, दो हैं। श्रावक सम्यक् ज्ञान से पदार्थों को यथावत् जानता है और सम्यक् श्रद्धा से उन पर विश्वास करता है। पर उनका आचरण अपनी शक्ति के अनुसार ही कर सकता है; उसके उपरान्त नहीं। इसीलिए श्रावक स्थूल असत्य वचन का त्याग करता है।

स्थूल मृषावाद के प्रधानतया पांच प्रकार बतलाए हैं। जैसे—कन्यालीक, गवालीक, भूम्यलीक, न्यासापहार और कूटसाक्षी। ये सब लाक्षणिक हैं। इनके सदृश स्थूल असत्य वचन इन्हीं के अन्तर्गत हो जाते हैं।

१. कन्यालीक—कन्या के सम्बन्ध में झूठ बोलना। जैसे काणी, खोड़ी, अपंग-अपाहिज कन्या को रूपवती एवं गुणवती कहना। इसी प्रकार सर्वांग सुन्दर कुलीन कन्या को कुरूपा एवं निराश्रित कहना। इसी प्रकार वर के सम्बन्ध में भी विपर्यास सहित वाणी बोलना। इसमें नौकर-नौकरानी, मुनीम-गुमाश्ता

आदि सब मनुष्य सम्बन्धी स्थूल झूठ का समावेश हो जाता है।

२. गवालीक—गाय सम्बन्धी झूठ बोलना। जैसे—थोड़ा दूध देनेवाली गाय को बहुत दूध देने वाली कहना। बहुक्षीरा को अल्पक्षीरा कहना। इसमें ऊंट, घोड़ा, हाथी आदि सब चार पैर वाले जीवों से सम्बन्धित असत्य का ग्रहण हो जाता है।

३. भूम्यलीक—पर की भूमि को निज की कहना। इसमें मकान, देश, खेत, सीमा, पहाड़ आदि सब अपद—पैर रहित द्रव्य समा जाते हैं।

४. न्यासापहार—धरोहर के सम्बन्ध में असत्य बोलना। पर की वस्तु को रख लेना और वापिस मांगने पर बदल जाना, इन्कार हो जाना।

५. कूटसाक्षी—असत्य गवाही देना। अपने लाभ के लिए, दूसरे की हानि के लिए, वैर प्रतिशोध के लिए या अन्य किसी के प्रभाव में आकर कोर्ट—कचहरी, पंचायत, संघ आदि में झूठी साक्षी देना।

‘क्विल्लिष्ठाशयसमुत्थत्वात् स्थूलासत्यानि’ इनमें चित्त वृत्तियां भारी कलुषित होती हैं। अतः ये सब स्थूल असत्य हैं।

स्थूल असत्य का निषेध

कन्यालीक आदि पहले तीन प्रकार के असत्य सर्व लोक विरुद्ध अति निन्दनीय एवं भर्त्सनीय हैं। इसलिए इनकी वर्जना करनी चाहिए। न्यासापहार विश्वासघात है। झूठी साक्षी धर्म के प्रतिकूल है। क्योंकि प्रतिपक्षी, साक्षी से धर्म की सौगन्ध खाने को कहता है ‘धर्म ब्रूयान्नाधर्ममिति’ धर्म से कहो। उस समय वह अपने धर्म को भी ताक पर रख देता है। इसलिए यह श्रावक के लिए निषिद्ध है।

अहिंसा पयसः पालिभूतान्यन्यव्रतानि यत्।

सत्यभङ्गात् पालिभङ्गेऽनर्गलं विप्लवेत् तत्॥

असत्य से हानि

अहिंसा व्रत एक बांध है। सत्य-व्रत उसका सेतु है। ज्यों पाल टूटने से बांध टूट जाता है त्यों ही सत्य-व्रत के भंग से अहिंसा व्रत भी टूट जाता है। अतः असत्य महान् पाप है।

एकत्रासत्यजं पापं, पापनिःशेषमन्यतः।

द्वयोस्तुलाविधृतयोराद्यमेवातिरिच्यते ॥

एक ओर असत्य का पाप और एक ओर सब पाप—इन दोनों को एक तराजू के दो पलड़ों में तोलें तो असत्य के पाप का पलड़ा ही झुका रहता है।

असत्य वचन के कारण भी बड़े निन्दनीय हैं। मनुष्य क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, कुतूहल और भय आदि से असत्य बोलता है। 'असत्यवादिनः पुंसः प्रतीकारो न विद्यते' और-और सब अवगुणों का प्रतिकार है, असत्यवादी की कोई प्रतिक्रिया नहीं। हिंसक है और वह सत्यवादी है तो हम उसकी हिंसा को जान लेंगे और उसे समझा-बुझा कर छुड़वा देंगे। परन्तु जो मनुष्य हिंसा भी करता है और उसे दबाने की चेष्टा करता है, उसका कोई उपाय नहीं हो सकता। इसीलिए यह कहना उचित है कि असत्य वचन अवगुण आने का द्वार है एवं सत्य वचन सब दोषों का प्रतिकार या चिकित्सा है।

अतिचार

इसके पांच अतिचारों का श्रावक को वर्जन करना चाहिए—

१. सहसाभ्याख्यान—बिना सोचे समझे किसी के सिर पर झूठा दोष नहीं मढ़ना चाहिए। जैसे हर किसी को कह देना—तू चोर है, तू व्यभिचारी है, इत्यादि संकल्पपूर्वक मिथ्या आरोप लगाना अनाचार है। उससे व्रत भंग हो जाता है।

२. रहस्याभ्याख्यान—एकान्त में सलाह करते हुए व्यक्तियों पर आरोप नहीं लगाना चाहिए—उन्हें दोषी नहीं ठहराना चाहिए अथवा रहस्य के छल से दो व्यक्तियों के मन में भेद डालने वाली कल्पित बातें नहीं करना चाहिए। जैसे कोई दो आदमी गुप्त मंत्रणा कर रहे हैं उनके प्रति यह आरोप लगा देना कि ये राज्य विरोधी मंत्रणा करते हैं या किसी के पिता को कह देना कि तुम्हारा प्रिय पुत्र तुम्हें मारने की चेष्टा करता है। इस अतिचार में प्रत्येक बात आशंका से कही जाती है अतः यह पहले अतिचार से भिन्न है।

३. स्वदार मंत्र भेद—पति को अपनी स्त्री की मर्म भरी बात नहीं करना चाहिए और स्त्री को अपने पति की। इसके अनुसार अपने किसी मित्र का भी मर्म प्रकाशित नहीं करना चाहिए। मर्म प्रकाशक को यह नहीं समझना चाहिए कि मैं सत्य मंत्रणा को प्रकट कर रहा हूँ, अतः यह अतिचार नहीं है। मर्म प्रकाशित करने से लज्जा आदि कारणवश अपघात तक के बड़े-बड़े अनर्थ हो जाते हैं—अतः वस्तुतः वह असत्य वचन है।

केवल आशंका से दोषी बनाना रहस्याभ्याख्यान है और मर्म को जानने

हुए उसे प्रकाशित करना स्वदार मंत्र भेद है। यही इन दोनों का अन्तर है। इस अतिचार का परमार्थ यही है कि विश्वस्त सूत्र को—विश्वास के आधार पर कहे हुए वार्तालाप को प्रकाश में लाना, चाहे यह किसी का भी क्यों न हो। संसार में स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध अधिक विश्वस्त माना जाता है। अतः इस अतिचार को 'स्वदारमंत्र भेद' के नाम से स्थापित किया है।

४. मिथ्या उपदेश—किसी प्रकार का झूठा उपदेश नहीं देना चाहिए। जैसे—मैंने अमुक काल में इस प्रकार मिथ्या भाषण कर उसे जीता था। इत्यादि कह कर दूसरों को असत्य वचन कहने के लिए प्रेरित करना अथवा पर-पीड़ाकारी, हिंसाकारी वचन कहना आदि-आदि। प्रमादवश इस प्रकार का उपदेश देना, जैसे चोरों को मारना चाहिए इत्यादि अथवा अयथार्थ उपदेश देना मिथ्या उपदेश है।

५. कूट लेख—झूठा खत नहीं लिखना चाहिए। नकली नोट छापना, जाली कागज लिखना, बिन्दुओं को बढ़ा कर धन राशि का परिमाण बढ़ा देना आदि इसमें अन्तर्हित हो जाते हैं।

मैंने झूठ बोलने का त्याग किया था—यह तो झूठा लेख है, झूठ बोलना नहीं है। इस प्रकार व्रत की अपेक्षा रखते हुए, व्रत का पूरा आशय न समझ कर ऐसा करना अतिचार है और जान बूझकर कूट लेख लिखना अनाचार है।

आलोचना—इनके आचरण से कोई पाप लगा हो तो वह मेरे लिए निष्फल हो।

परिशिष्ट

एक दिन सत्यवादिता के कारण भारत का सिर गौरव से उन्नत था। दुनिया के हर अंचल तक इसका यश परिमल फैल चुका था। विदेश से समागत यात्रियों ने बड़े गौरव के साथ इस बात का उल्लेख किया है कि भारत के लोग बड़े सत्यवादी हैं। सारे कारोबार मौखिक चलते थे। साक्षी तो दूर, लिखने की भी कोई आवश्यकता नहीं थी। एक दिन आज का है, जो अपने हाथों से लिखे हुए खत को इन्कार करने में न केवल संकोच; अपितु गौरव समझते हैं। यह निश्चित है कि आज के विषाक्त वातावरण से मनुष्य सहज ही प्रभावित हो जाता है, तो भी श्रावक को इससे बचना चाहिए।

इस व्रत के अनुसार श्रावक को स्थूल असत्य नहीं बोलना चाहिए। सूक्ष्म

असत्य से भी जहां तक हो सके बचना चाहिए। असत्यवादी से लोग घृणा करते हैं। उसकी नेकी पर किसी को भी विश्वास नहीं होता। अविश्वास से उसे बड़ा धक्का पहुंचता है। प्रतिष्ठा का लोप होता है। सत्यव्रती को निरन्तर सत्य का आदर करना चाहिए।

झूठ-मूठ दोष का आरोप करना, किसी को व्यर्थ कलंकित करना, विश्वस्त मन्त्र को प्रकट करना, मिथ्या उपदेश देना, झूठा लेख लिखना आदि महान् अवगुण हैं। इन्हीं के कारण आज द्वेष का ज्वालामुखी फूट रहा है। युद्धाग्नि के स्फूर्लिंग गगन को धूमिल कर रहे हैं। न्यायालय के विशाल भवन आकाश के आंगन को छू रहे हैं। न्यायाधीश और वकीलों की संख्या से भी जनसमूह का एक बड़ा भाग रुका हुआ है। घूसखोरी का बाजार व्यापक हो रहा है। क्या यही समाज की उन्नत दशा है? क्या यही सभ्य समाज के चिह्न हैं? ऐसा सामाजिक निर्माण आज कहां है, जो सत्य के आधार पर प्रतिष्ठित हो, नेकनीयत की भित्ति पर जिसका जीवन टिका हो?

श्रावक को इस सत्य व्रत का उदात्त चेष्टा से पालन करना चाहिए, जिससे उसका जीवन सत्यता पर आधारित हो सके, अनुकरणीय बन सके और उच्च एवं पवित्र ध्येय वाले समाज की नींव डाल सके। श्रावक को सत्यभाषिता के साथ-साथ कटु-कर्कश वाणी का संवरण करना चाहिए, जिससे 'सत्ये नास्ति भयं क्वचित्' यह वाक्य सत्य सिद्ध हो सके। जैसा कि आचार्यश्री तुलसी का उपदेश है—

कटु कर्कश भाषा मति बोलो,
बोलो तो वयण रयण तोलो,
तो लोक उभय भय नहीं डोलो।

वाणी का सत्य प्रयोग नम्रता एवं मृदुता से भावित होकर सोने में सुगन्ध की कहावत को चरितार्थ करता है। एक महत्त्वपूर्ण उल्लेख के साथ प्रस्तुत विषय का समाहार किया जा रहा है—'सत्यवादिता अत्याचारों को छोड़ने का एक सर्वश्रेष्ठ उपाय है। सत्यवादी अवगुणों से बचा रहता है, वह कभी अत्याचार नहीं कर सकता। सत्य और अत्याचारों के बीच विरोध की दीवार खड़ी रहती है।'

तीसरा अणुव्रत

अस्तेय

मूल पाठ

तइयं अणुव्वयं थूलाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं। सेय अदिण्णादाणे पंचविहे पन्नत्ते, तं जहा-१ खत्तखणणं २ गंठिभेअणं ३ जंतुग्घाडणं ४ पडिय वत्थुहरणं ५ ससामिअ-वत्थुहरणं। इच्चेवमाइस्स थूलअदिण्णादाणस्स पच्चक्खाणं जावज्जीवाए दुविहं-तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा। एयस्स तइयस्स थूलग-अदिण्णादाण-वेरमणस्स समणोवासएणं पच्च अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा-१ तेनाहडे २ तक्करप्पओगे ३ विरुद्धरज्जाइक्कमे ४ कूडतुल्ल-कूडमाणे ५ तप्पडिरूवगववहारे। जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

छाया

तृतीयं अणुव्रतं-स्थूलाद् अदत्तादानाद्-विरमणं। तच्च अदत्तादानं पञ्चविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा-१ खात्रखननं २ ग्रन्थिभेदनं ३ यन्त्रोद्घाटनं ४ पतितवस्तुहरणं ५ सस्वामिक-वस्तुहरणं। इत्येवमादेः स्थूलाऽदत्तादानस्य प्रत्याख्यानं यावज्जीवं द्विविधं त्रिविधेन न करोमि न कारयामि मनसा वचसा कायेन। एतस्य तृतीयस्य स्थूलकाऽदत्तादान-विरमणस्य श्रमणोपासकेन पञ्च अतिचाराः ज्ञातव्याः न समाचरितव्याः, तद्यथा-१ स्तेनाहृतम् २ तस्कर प्रयोगः ३ विरुद्धराज्यातिक्रमः ४ कूटतौल्य-कूटमानं ५ तत्-प्रतिरूपकव्यवहारः। यो मया दैवसिकः अतिचारः कृतः तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम्।

शब्दार्थ

तइयं अणुव्वयं-तीसरे अणुव्रत

थूलाओ अदिण्णादाणाओ—स्थूल अदत्तादान का
 वेरमणं—विरमण
 सेय अदिण्णादाणे—वह अदत्तादान
 पञ्चविहे पन्नत्ते—पांच प्रकार का प्रज्ञप्त है।
 तं जहा—वे इस प्रकार हैं
 खत्तखणणं—खात खनना
 गंठिभेअणं—गांठ खोलना
 जंतुग्घाडणं—ताला तोड़ना
 पडियवत्थुहरणं—पड़ी हुई वस्तु को उठाना
 ससामिअ वत्थुहरणं—स्वामी सहित वस्तु को लेना
 इच्चेवमाइस्स—इत्यादिक
 थूलअदिण्णादाणस्स पच्चक्खाणं—स्थूल अदत्तादान का प्रत्याख्यान
 जावज्जीवाए—जीवन पर्यन्त
 दुविहं तिविहेणं—दो करण तीन योग से
 न करेमि न कारवेमि—न करूं न कराऊं
 मणसा वयसा कायसा—मन से वचन से शरीर से
 एयस्स तइयस्स—इस तृतीय
 अदिण्णादाणवेरमणस्स—अदत्तादान विरमणव्रत के
 समणोवासएणं—श्रमणोपासक के लिए
 पञ्च अइयारा जाणियव्वा—पांच अतिचार ज्ञातव्य हैं
 न समायरिव्वा—समाचरणीय नहीं हैं
 तंजहा—वे इस प्रकार हैं
 तेनाहडे—चोर की चुराई वस्तु ली हो
 तक्करप्पओगे—चोर की सहायता की हो
 विरुद्धरज्जाइक्कमे—विरुद्ध राज्य में व्यापारादि निमित्त प्रवेश किया हो।
 कुडतुल्लकूडमाणे—कूट तोल कूट माप किया हो
 तप्पडिरूवगववहारे—एक मूल्यवान् वस्तु में खराब वस्तु का मिश्रण
 किया हो

जो मे देवसिओ —जो मैंने दिवस सम्बन्धी
अइयारो कओ—अतिचार किया हो
तस्स मिच्छामि दुक्कड—उसका निष्फल हो पाप ।

भावार्थ

गुरुदेव! मैं तीसरे अणुव्रत में स्थूल अदत्तादान से निवृत्त होता हूँ। मैं जीवन पर्यन्त किसी के मकान की भीत फोड़ कर, गांठ खोल कर, ताला तोड़ कर, मार्ग में पड़ी बहुमूल्य मालकियत की वस्तु उठाकर, स्वामी सहित वस्तु का अपहरण कर, लूट-खसोट कर, अदत्त वस्तु को लेने का और इस प्रकार की निन्दनीय बड़ी चोरी करने का, दो करण तीन योग से प्रत्याख्यान करता हूँ।

विवेचन

अदत्तादान

अदत्त—नहीं दी हुई वस्तु का आदान—ग्रहण करना अदत्तादान है। अदत्तादान चोरी है। चोरी अनेक प्रकार की होती है। सजीव वस्तु की, अजीव वस्तु की, आदि-आदि। वास्तविकता को छिपाना चोरी है, चाहे वह किसी वस्तु सम्बन्धी हो। जैसे—तपस्या के बिना अपने आपको तपस्वी एवं सदाचार के बिना सदाचारी कहना आदि। दूसरे के अधिकारों को हड़पना आदि कार्य भी चोरी है। प्रश्नव्याकरण में यहां तक लिखा है कि अस्तेय-व्रतधारी को पर-परिवाद—निन्दा नहीं करना चाहिए, पर के दोष नहीं कहना चाहिए, चुगली नहीं करना चाहिए, ईर्ष्या नहीं करना चाहिए। यह चोरी का सार्वभौम स्वरूप है।

श्रावक स्थूल चोरी का त्याग करता है, सूक्ष्म का नहीं। जिस अदत्तादान से चोरी का अपराध लग सकता हो, वह स्थूल अदत्तादान है। दुष्ट अध्यवसाय से स्वामी की आज्ञा के बिना साधारण वस्तु लेना भी स्थूल अदत्तादान है।

स्थूल अदत्तादान के पांच प्रकार

बड़ी चोरी के पांच मुख्य प्रकार बतलाये गए हैं—

१. खान्निखनन—खात खनकर, भीत फोड़कर पर की चीज चुराना।
२. ग्रन्थिभेदन—गांठ खोल कर, सन्दूक-आलमारी आदि खोल कर कोई चीज चुराना।
३. यंत्रोद्घाटन—ताला तोड़ कर या चाबी से ताले को खोलकर, जेब काट कर चोरी करना।

४. पतित वस्तु हरण—चीज का मालिक आगे चल रहा है, उसके पास से कोई चीज गिर गई, उसे उठा लेना।

विस्मृत आदि भी इसके अंतर्गत हैं। वस्तु का मालिक वस्तु को रख कर भूल जाता है, उसे उठा लेना।

आहित—जमीन में गड़ी हुई धनराशि को खोद कर निकाल लेना।

५. सस्वामीक वस्तुहरण—स्वामी का पता होते हुए भी किसी पड़ी हुई वस्तु को ले लेना। डाका डालना, लूट-खसोट करना, यह सब स्थूल चोरी है। यह राज्य से दण्डनीय है, जन साधारण में निन्दनीय है, आत्म गुण की घातक तो है ही। अतः श्रावक इस प्रकार की चोरी से विरक्त रहता है।

अतिचार

इसके पांच अतिचारों का श्रावक को वर्जन करना चाहिए—

१. स्तेनाहत—लोभ आदि से चोरी की वस्तु को अल्प मूल्य में नहीं लेना चाहिए। (इसका यह अर्थ नहीं कि पूरे मूल्य में खरीद लेना चाहिए। क्योंकि चोरी की चीज को जान-बूझ कर पूरे दामों में कौन लेता है, वह तो लाभ की दृष्टि से लालच से ली जाती है इत्यादि)।

२. तस्कर प्रयोग—चोर को शस्त्र आदि की सहायता नहीं देनी चाहिए, आश्रय नहीं देना चाहिए। चोर को चोरी के लिए प्रेरित नहीं करना चाहिए। जैसे—तुम्हारी चुराई हुई वस्तु को कोई बेचने वाला नहीं है तो मैं बेच दूंगा इत्यादि।

३. विरुद्ध राज्यातिक्रम—परस्पर विरोधी राजाओं के राज्य में व्यापारादि के निमित्त प्रवेश कर राज्य व्यवस्था का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। युद्ध के समय एक राज्य से दूसरे राज्य में आने-जाने का निषेध होता है अथवा एक देश से दूसरे देश में नियम के विरुद्ध अन्न भेजना, शत्रु के देश में जाना, शत्रु को समाचार भेजना इत्यादि। जिन कारणों से अवहेलनापूर्वक चौर्य दण्ड दिया जा सके, वह काम श्रावक को नहीं करना चाहिए।

४. कूटतौल्य-कूटमान—हीनाधिक तौल और माप से क्रय विक्रय नहीं करना चाहिए। धान्य आदि को तराजू से बेचने के समय थोड़ा और लेने के समय अधिक नहीं तौलना चाहिए। वस्त्र आदि को गज आदि से बेचने के समय थोड़ा और लेने के समय अधिक नहीं मापना चाहिए।

५. तत्प्रतिरूपक व्यवहार—बहुमूल्य वस्तु में अल्प मूल्य वस्तु, जो उसी के सदृश है, मिला कर बेचना, अच्छी चीज दिखा कर बुरी चीज देना, शुद्ध घी में वेजीटेबल (Vegetable) मिला कर बेचना, शक्कर में आटा मिला कर बेचना, असली सोने के बदले नकली सोना बना कर बेचना आदि कार्य श्रावक को नहीं करने चाहिए।

अलोचना—इनके योग से पाप लगा हो तो वह मेरे लिए निष्फल हो।

अंत के दो अतिचार क्यों?

कूटतौल कूटमाप और प्रतिरूपक क्रिया, ये दोनों वस्तुवृत्त्या अतिचार हैं। इनको अतिचार की संख्या में क्यों परिगणित किया गया है? इन दोनों व्यवहारों में अल्प मूल्य की वस्तुओं के बदले अधिक मूल्य लिया जाता है, अतः यह अदत्तादान है। यह स्पष्ट रूप से पर-धन का ग्रहण है। यह सत्य है, पर श्रावक अचौर्य व्रत की रक्षा को तत्पर रहता हुआ व्यापार व्यवस्था के अनुसार या व्यापार कौशल की भावना से या असावधानी से ऐसा करे, उस परिस्थिति में ये सब अतिचार हैं। पहले तीनों के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार समझना चाहिए।

पर-धन ग्रहण से न केवल अचौर्य-व्रत का ही भंग होता है अपितु अहिंसा व्रत भी खंडित हो जाता है। धन-हरण मनुष्य के प्राण नाश की तरह दुःख का हेतु है। श्वास और आभ्यन्तर प्राणों की भांति सोने-चांदी पर भी मनुष्य का ममत्व होता है। धन का नाश मृत्यु से भी असह्य है। धन-क्षय से मानव विह्वल हो उठता है, चेतना लुप्त हो जाती है, वेदना की विराट् अनुभूति होने लग जाती है। चोरी करना निःसन्देह हिंसा है, अहिंसा व्रत का खण्डन है।

चोरी के कारण

चोरी के हेतु सापेक्ष हैं। चोरी का सर्व साधारण हेतु असंतुष्टि है। जैसा कि उत्तराध्ययन में लिखा है—

‘अतुष्टी दोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययई अदत्तं।’

मनुष्य चोरी क्यों करता है? इसका यह समाधान है—‘अतुष्टि दोष से दुःखी मनुष्य लोभग्रस्त होकर अदत्त का ग्रहण करता है।’ संतोषी पुरुष ऐसा कभी नहीं करता। विशेष रूप से असंतोष को उभारने वाले छूत प्रमुख दुर्व्यसन, अधिक व्यय, कुसंगति, अशिक्षा, यशलोलुपता, देखा-देखी, ऐश-आराम, सामाजिक अव्यवस्था आदि अनेक चोरी के निमित्त हैं।

चोरी का त्याग परम पुरुषार्थ का साधन है। वे पुरुष धन्य हैं जो चोरी का त्याग करते हैं। पराई संपत्ति को देख कर जिसका मन डावांडोल नहीं होता, जो पुरुष पर-धन को धूल मानता है, पर धनराशि के ग्रहण को अपनी पराजय समझता है, वही दुनिया में सबसे बड़ा धनी और सुकृति है।

परिशिष्ट

यह अदत्तादान विरमण व्रत मनुष्य बनने का उपदेश देता है, सुखी बनना सिखाता है। सबसे बड़ा सुख अपने अधिकारों की सीमा में रमण करना है। परकीय वस्तु-हरण की राक्षसी वृत्ति मनुष्य को अशान्त और व्याधिग्रस्त बनाती है। इसलिए सुख-समाधि में रमण करने के लिए मनुष्य को स्वकीयता की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। चोरी की आसुरी वृत्ति ने केवल कई व्यक्तियों को ही उपद्रुत नहीं किया, अपितु देश और समाज की दुर्दशा कर डाली। मनुष्य को मनुष्यत्व से च्युत कर दिया। हृदय आतंकपूर्ण बना दिये। इसके प्रताप से ताले-कुंजी और आलमारियों के बड़े-बड़े कारखाने प्रतिस्पर्धा से अपना काम कर रहे हैं। केवल चोरी करने वाला ही चोर नहीं, कराने वाला, सहायता देने वाला भी चोर है।

असद् व्यवहार चोरी करने का मुख्य साधन है। जितने अधिक असद् व्यवहार लोगों के सामने आ रहे हैं, उतना ही अधिक चोरी का साहस और चोरी के तरीके बढ़ रहे हैं। अयोग्य अधिकारी एवं अवांछनीय कानूनों को जबरन जनता पर और विशेष रूप से व्यापारियों के सिर पर थोपने वाली शासन-व्यवस्था के कारण चौर्यवृत्ति को नव जीवन प्राप्त होता है। मनोविज्ञान यह बतलाता है कि चोरी में राज्य और प्रजा दोनों का हाथ रहता है। राजा (राज्य व्यवस्था) और प्रजा की अनधिकार और अनुपयोगी चेष्टा ही मुख्यतया चोरी का कारण बनती है। बड़े-बड़े व्यापारियों का यह व्यापार साधन है। परिस्थितियां जितनी जटिल हो सकती हैं, आज उतनी ही जटिल हैं। सभी समाज और देश इस चक्र में फंसे हुए हैं। इस वातावरण में केवल आत्म-शुद्धि के लक्ष्य से ही चोरी का प्रत्याख्यान किया जा सकता है। श्रावक का लक्ष्य आत्म-शुद्धि होना चाहिए और उस लक्ष्य के अनुसार श्रावक के लिए अन्याय क्षेत्र की साकार रूप चोरी का प्रत्याख्यान करना ही श्रेयस्कर है।

चौथा अणुव्रत

स्वदार-संतोष व्रत

मूल पाठ

चउत्थं अणुव्वयं थूलाओ मेहुणाओ वेरमणं । जावज्जीवाए दिव्वं दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा । माणुस्सं तिरिक्खजोणियं एगविहं एगविहेणं न करेमि कायसा । एयस्स चउत्थस्स थूलगमेहुणवेरमणस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तंजहा-१ इत्तरियपरिग्गहियागमणे २ अपरिग्गहियागमणे ३ अणंगकिहु ४ परविवाहकरणे ५ काम-भोग-तिव्वाभिलासे । जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

छाया

चतुर्थं अणुव्रतं स्थूलाद् मैथुनाद् विरमणं । यावज्जीवं देवं द्विविधं त्रिविधेन न करोमि न कारयामि मनसा वचसा कायेन । मानुषं तिर्यग्योनिकं एकविधं एकविधेन न करोमि कायेन । एतस्य चतुर्थस्य स्थूलकमैथुनविरमणस्य श्रमणोपासकेन पञ्चातिचाराः ज्ञातव्याः न समाचरितव्याः, तद्यथा १ इत्वरपरिगृहीतागमनम् २ अपरिगृहीतागमनम् ३ अनङ्गक्रीडा ४ परविवाहकरणं ५ काम-भोग-तीव्राभिलाषः । यो मया दैवसिकः अतिचारः कृतः तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम् ।

शब्दार्थ

चउत्थं अणुव्वयं—चौथा अणुव्रत
थूलाओ मेहुणाओ—स्थूल मैथुन से
वेरमणं—विरमण (विरत होना)
जावज्जीवाए—जीवन पर्यन्त

दिव्वं—देवता सम्बन्धी
 दुविहं तिविहेणं—दो करण तीन योग से
 न करेमि न कारवेमि—न करूं न कराऊं
 मणसा वयसा कायसा—मन से वचन से शरीर से ।
 माणुस्सं—मनुष्य सम्बन्धी
 तिरिक्खजोणियं—तिर्यच सम्बन्धी
 एगविहं एगविहेणं—एक करण एक योग से
 न करेमि—न करूं
 कायसा—शरीर से ।

एयस्स चउत्थस्स—इस चतुर्थ
 थूलग मेहुण वेरमणस्स—स्थूल मैथुन विरमणव्रत के
 समणोवासएणं—श्रमणोपासक के लिए
 पंच अइयारो जाणियव्वा—पांच अतिचार ज्ञातव्य हैं
 न समायरियव्वा—समाचरणीय नहीं हैं
 तंजहा—वे इस प्रकार हैं—

इत्तरियपरिगहियागमणे—भाड़ा देकर कुछ काल के लिए अपने अधीन
 की हुई स्त्री से आलाप-संलाप रूप गमन करना ।

अपरिगहियागमणे—विवाहित पत्नी के सिवाय वेश्या आदि से आलाप-
 संलाप रूप गमन करना ।

अणंगकिड्डा—अस्वाभाविक रीति से कामक्रीड़ा करना ।
 परविवाहकरणे—पर-संतति का विवाह करना ।
 कामभोगतिव्वाभिलासे—काम-भोग की तीव्र अभिलाषा
 जो मे देवसिओ—जो मैंने दिन सम्बन्धी
 अइयारो कओ—अतिचार किया हो तो
 तस्स मिच्छामि दुक्कडं—उसका निष्फल हो पाप ।

भावार्थ

गुरुदेव ! मैं चतुर्थ अणुव्रत में स्थूल मैथुन अर्थात् अपनी परिणिता स्त्री के
 सिवाय शेष सब स्त्रियों के साथ मैथुन सेवन करने से निवृत्त होता हूं । मैं जीवन
 पर्यन्त देवता, देवांगना सम्बन्धी मैथुन नहीं सेवूंगा, नहीं सेवाऊंगा, मन, वाणी

और काया से। पुरुष, स्त्री, तिर्यच, तिर्यचिनी सम्बन्धी मैथुन शरीर से नहीं सेवूंगा। स्व स्त्री सम्बन्धी मैथुन मर्यादा के उपरांत शरीर से नहीं सेवूंगा।

विवेचन

स्वदार-संतोष व्रत

‘मैथुनमब्रह्म’ –मैथुन नाम जोड़े का है। जोड़ा स्त्री-पुरुष स्त्री-स्त्री एवं पुरुष-पुरुष का हो सकता है। ऐसे जोड़े की काम-राग के आवेश से उत्पन्न होने वाली मानसिक, वाचिक एवं कायिक प्रवृत्तियां मैथुन (अब्रह्म) कहलाती हैं। इसका असली अर्थ तो कामराग-जनित चेष्टा है। चाहे वह केवल पुरुष या केवल स्त्री की ही हो। मैथुन का विस्तृत अर्थ काम-रागोत्पन्न चेष्टा ही करना होगा। मैथुन शब्द तो सिर्फ लाक्षणिक है। यह अब्रह्माचरण है। जिसके आचरण से सद्गुण की वृद्धि हो सके उसका नाम ब्रह्म है और जिसके आचरण से अवगुण बढ़ सके उसका नाम अब्रह्म है।

अब्रह्मचर्य अवगुणों की खान है। मन इससे क्लान्त एवं विकल हो जाता है। वाणी की सुधबुध चली जाती है। स्वास्थ्य गिर जाता है। जागृत चेतना भी सुषुप्ति की गोद में चली जाती है, और भी क्या-क्या दोष नहीं, जो इसमें नहीं फलते? इसलिए यह त्यागने योग्य है।

मैथुन दो प्रकार का है—सूक्ष्म और स्थूल। मन, इन्द्रिय और वाणी में जो अल्प विकार उपजता है, वह सूक्ष्म मैथुन है और जो औदारिक या वैक्रिय शरीर के साथ काम-चेष्टा की जाती है वह स्थूल मैथुन है। श्रावक स्थूल मैथुन का प्रत्याख्यान करता है, अतः यह व्रत स्थूल मैथुन-विरति कहलाता है। अथवा मैथुन का त्याग देशतः और सर्वथा, दोनों प्रकार से होता है। श्रावक मैथुन का त्याग आंशिक रूप से करता है इसलिए यह स्थूल मैथुन विरति है। इसका दूसरा नाम स्वदार-संतोष है। स्त्री के लिए स्वपति-संतोष है। कई ग्रन्थों में इसको परदारगमन-विरति भी कहा है। वह केवल नामान्तर है। भावार्थ सबका एक है।

अतिचार

इस व्रत के पांच अतिचारों का श्रावक को वर्जन करना चाहिए—

१. इत्वरपरिगृहीता गमन—थोड़े समय के लिए वेतन आदि साधनों से अपने अधीन की हुई या किसी दूसरे के अधीन की हुई साधारण स्त्री के साथ आलाप-संलाप रूप गमन नहीं करना चाहिए।

२. अपरिगृहीता गमन—वेश्या या वैसी कोई दूसरी साधारण अनाथ, विधवा, कन्या, कुलवधू (जिसका पति विदेश गया हो) आदि (अपनी विवाहिता पत्नी के सिवाय सब) के साथ आलाप-संलाप-रूप गमन नहीं करना चाहिए।

शंका—पर-स्त्री और वेश्या के साथ भोग रूप गमन करना स्वदार-संतोष व्रत में अनाचार है तो फिर अतिचार की संख्या में इनका ग्रहण क्यों?

उत्तर—ये दोनों अतिक्रमण आदि की अपेक्षा से अतिचार हैं। जैसे इत्वरपरिगृहीता और अपरिगृहीता स्त्री के साथ काया से भोग करने का संकल्प करना अतिक्रम है, भोग करने को उद्यत हो जाना व्यतिक्रम है और भोग के उपायभूत आलाप-संलाप आदि करना अतिचार है। ऐसा करने से व्रत एक देश से खण्डित होता है। सूई-डोरा की विधि से पर-स्त्री आदि के साथ मैथुन सेवन करने से व्रत सर्वथा खण्डित हो जाता है। अतः यह अनाचार है ही। इसीलिए अतिचार के प्रकरण में इनके साथ आलाप-संलाप रूप गमन करने का निषेध किया है।

३. अनंगक्रीड़ा—जो काम सेवन के प्राकृतिक अंग हैं, उनके विरुद्ध श्रावक को काम-क्रीड़ा नहीं करनी चाहिए। परस्त्री से मैथुन सेवन करने का त्याग तो श्रावक के होता ही है, किन्तु इस अतिचार का आशय यह है कि उनसे कामानुराग सहित आलिंगन आदि भी नहीं करना चाहिए तथा हस्तकर्मादि अति घृणित पाशविक कार्य नहीं करना चाहिए।

४. परविवाह करना—स्व संतति के उपरान्त दूसरे की सन्तति—पुत्र-पुत्री आदि का विवाह नहीं कराना चाहिए। स्वदार संतोषी श्रावक के लिए दूसरों को विवाहित कर मैथुन में प्रवृत्त करना अनुचित है। अपने घर का प्रबन्ध करने के लिए भी यदि वह विवश न हो तो स्व सन्तति के विवाह का त्याग करना भी श्रावक के लिए उचित है।

५. कामभोग तीव्राभिलाष—कामशास्त्र-कथित प्रयोगों द्वारा तथा कामोत्तेजक औषधियों से काम बाधा को बार-बार उद्दीप्त कर क्रीड़ा नहीं करना चाहिए। पांच इन्द्रिय के विकारों में अति आसक्त—अंध नहीं होना चाहिए। अति कामान्ध धर्म, कर्म, व्रत, अव्रत का कुछ खयाल नहीं करता। वह तो निरन्तर रति-क्रीड़ा को ही सुख मान लेता है, जिससे व्रत-भंग की संभावना रहती है। अतः यह अतिचार है।

आलोचना—इसके सेवन से कोई दोष लगा हो तो यह मेरे लिए निष्फल हो।

परिशिष्ट

ब्रह्मचर्य की महिमा अनन्त है। उसे कोई सीमाबद्ध नहीं कर सकता। बड़े-बड़े ऋषि-महर्षियों ने इसके यशोगान गाये, तथापि इसका लक्षांश बतलाने में भी उन्होंने अपने को असमर्थ पाया। ब्रह्मचर्य का जितना अधिक महत्त्व है, उतना ही अधिक कठिन उसका पालन है और जितना कठिन है, उतना ही आवश्यक है।

अब्रह्मचर्य पशु-क्रिया है। अजितेन्द्रिय पुरुष ही उसमें प्रवृत्त होता है। मन और इन्द्रियों पर नियन्त्रण करना महान् पुरुषार्थ है। अब्रह्म को शरीर धर्म या प्राकृतिक लालसा मानकर उसकी पूर्ति को आवश्यक नहीं मानना चाहिए। यह तो इन्द्रिय और मन की उच्छृंखलता है। इसका दमन करना महापुरुष का काम है। कामी मनुष्य कदापि तृप्ति का अनुभव नहीं करता। काम से काम की लालसा शांत नहीं होती। जैसे—

घृत की आहुति से नहीं बुझती है आग,
नहीं बुझता है कहीं स्नेह से चिराग।
मरु मरीचिका से नहीं मिटती है प्यास,
विषय रसास्वादन से नहीं मिटती है विषय की अभिलाष ॥

भोग सेवन से भोगों की वृद्धि होती है। जो पुरुष स्त्री-संभोग से काम-बाधा को शांत करना चाहता है, वह घी की आहुति से अग्नि को शांत करना चाहता है।

स्त्रीसम्भोगेन यः, काम-ज्वरं प्रतिचिकीर्षति।
स हुताशं घृताहुत्या, विध्यापयितुमिच्छति ॥

काम को जीतने का साधन विरक्ति है, मानसिक शुद्धि है। शरीर का अशुचित्व और अनित्यता का चिन्तन, इससे विरत होने के उपाय हैं।

अब्रह्मचर्य की उच्छृंखलता से धार्मिक पतन के साथ-साथ सामाजिक और राष्ट्रीय पतन का भी घनिष्ट सम्बन्ध है। इसलिए स्वदारसंतोष-व्रत श्रावक को ब्रह्मचर्य पालन का आदेश करता है। समर्थ मनोबल के बिना पूरा ब्रह्मचर्य नहीं पाला जाये तो यह जरूरी है कि अब्रह्मचर्य को सीमित करे। इस आदेशानुसार श्रावक विश्व की समस्त अंगनाओं पर प्रवृत्त होने वाली काम-चेष्टा को

संकुचित कर उसे एक (स्व विवाहित) स्त्री पर सीमित कर देता है और उसको नियमित करता रहता है तथा आगे जाकर वह उसका बिलकुल त्याग कर देता है। काम एक भयानक विष है। उसको निःसत्त्व करने की यह समुचित प्रक्रिया है। यह विष-वैद्य की प्रणाली है। विष-चिकित्सक समूचे शरीर में व्याप्त जहर को बटोर कर पहले डंक के स्थल में ले आता है और फिर उसे निकाल बाहर फेंकता है। इस व्रत का क्रम भी ठीक ऐसा ही है। अपरिगृहीता, परिगृहीता आदि के साथ सम्पर्क करने से समाज और जाति की कितनी दुर्दशा होती है, यह स्वयं ज्ञात है। श्रावक को इस प्रकार के कार्यों से अपने धार्मिक गौरव एवं समाज और राष्ट्र को भी पतित नहीं करना चाहिये। ब्रह्मचर्य व्रत का पूरा-पूरा आदर करना श्रावक का परम कर्तव्य है। इसमें सबका कल्याण है। जैसे—

चिरायुषः सुसंस्थाना, दृढसंहनना नराः ।
तेजस्विनो महावीर्या, भवेयुर्ब्रह्मचर्यतः ॥

ब्रह्मचारी पुरुष दीर्घजीवी, सुडौल, मजबूत, तेजस्वी और महापराक्रमी होते हैं।

आधुनिक सभ्यता के नाम पर अब्रह्मचर्य को पुष्ट करना अनार्यत्व का लक्षण है। मैथुन से कदापि सभ्यता पल्लवित नहीं हो सकती। वे पुरुष अनार्य हैं, जो काम-चेष्टा को प्रोत्साहित करने का प्रयास करते हैं। श्रावक को अपने लक्ष्य को दृष्टिगत रखते हुए ऐसा नहीं करना चाहिए।

पांचवां अणुव्रत

इच्छा-परिमाण-व्रत

मूल पाठ

पंचमं अणुव्ययं थूलाओ परिग्हाओ वेरमणं-१ खेत्तवत्थुणं जहापरिमाणं २ हिरण्ण-सुवण्णाणं जहापरिमाणं ३ धणधन्नाणं जहापरिमाणं ४ दुप्पयचउप्पयाणं जहापरिमाणं ५ कुवियस्स जहापरिमाणं एवं मए जहापरिमाणं कयं तओ अइरित्तस्स परिग्हाहस्स पच्चक्खाणं जावज्जीवाए एगविहं तिविहेणं न करेमि मणसा वयसा कायसा। एयस्स पंचमस्स थूलगपरिग्हाहपरिमाणव्वयस्स समणोवासएणं पंचअइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तंजहा-१ खेत्तवत्थुप्पमाणाइक्कमे २ हिरण्ण-सुवण्णप्पमाणाइक्कमे ३ धणधन्नप्पमाणाइक्कमे ४ दुप्पय-चउप्पयप्पमाणाइक्कमे ५ कुवियपमाणाइक्कमे। जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

छाया

पञ्चमं अणुव्रतं स्थूलाद् परिग्रहाद् विरमणं-१ क्षेत्रवास्तूनाम् यथापरिमाणं २ हिरण्य-सुवर्णानाम् यथापरिमाणं ३ धनधान्यानाम् यथापरिमाणं ४ द्विपदचतुष्पदानां यथापरिमाणं ५ कुप्यस्य यथापरिमाणं। एवं मया यथापरिमाणं कृतम् ततः अतिरिक्तस्य परिग्रहस्य प्रत्याख्यानं यावज्जीवं एकविधं त्रिविधेन न करोमि मनसा वचसा कायेन। एतस्य पञ्चमस्य स्थूलक-परिग्रहपरिमाण-व्रतस्य श्रमणोपासकेन पञ्चातिचाराः ज्ञातव्याः न समाचरितव्याः, तद्यथा-१ क्षेत्रवस्तु-प्रमाणातिक्रमः २ हिरण्य-सुवर्ण-प्रमाणातिक्रमः ३ धनधान्य-प्रमाणातिक्रमः ४ द्विपद-चतुष्पद-प्रमाणातिक्रमः ५ कुप्य-प्रमाणातिक्रमः। यो मया दैवसिकः अतिचारः कृतः तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम्।

शब्दार्थ

पंचम अणुव्ययं—पांचवां अणुव्रत
 थूलाओ परिग्रहाओ वेरमणं—स्थूल परिग्रह से विरमण (निवृत्त होता हूँ)
 खेत्तवत्थुणं जहापरिमाणं—क्षेत्र-वास्तु का यथापरिमाण
 हिरण्ण-सुवण्णणं जहापरिमाणं—हिरण्य सुवर्ण का यथापरिमाण
 धणधन्नाणं जहापरिमाणं—धन-धान्य का यथापरिमाण
 दुप्पयचउप्पयाणं जहापरिमाणं—द्विपद-चतुष्पद का यथापरिमाण
 कुवियस्स जहापरिमाणं—कुप्य तथा घर सामग्री का यथापरिमाण
 एवं मए जहापरिमाणं कयं—इस प्रकार मैंने जैसा परिमाण किया
 तओ अइरित्तस्स—उसके उपरान्त
 परिग्रहस्स पच्चक्खाणं—परिग्रह रखने का प्रत्याख्यान
 जावज्जीवाए—जीवन पर्यन्त
 एग-विहं—एक करण
 त्तिविहेणं—तीन योग से (प्रमाणाधिक परिग्रह का संचय)
 न करेमि—न करूँ
 मणसा वयसा कायसा—मन से वचन से काया से
 एअस्स पंचमस्स—इस पांचवें
 थूलगपरिग्रह परिमाणव्वयस्स—स्थूल परिग्रह परिमाणव्रत के
 समणोवासएणं—श्रावक को
 पंचअइयारा जाणियव्वा—पांच अतिचार जानने चाहिए
 न समायरियव्वा—आचरण नहीं करना चाहिए
 तंजहा—वे इस प्रकार हैं—
 खेत्तवत्थुप्पमाणाइक्कमे—क्षेत्र-वास्तु प्रमाण का अतिक्रमण करना
 हिरण्ण-सुवण्णप्पमाणाइक्कमे—हिरण्य-सुवर्ण प्रमाण का अतिक्रमण
 करना
 धणधन्नाप्पमाणाइक्कमे—धन-धान्य प्रमाण का अतिक्रमण करना
 दुप्पय-चउप्पयप्पमाणाइक्कमे—द्विपद-चतुष्पद प्रमाण का अतिक्रमण
 करना ।

कुवियप्पमाणाइक्कमे—कुप्य परिमाण का अतिक्रमण करना ।
 जो मे देवसिओ —जो मैंने दिवस सम्बन्धी
 अइयारो कओ—अतिचार किया हो तो
 तस्स मिच्छामि दुक्कडं—उसके निष्फल हों सब पाप ।

भावार्थ

गुरुदेव ! मैं पांचवें अणुव्रत में स्थूल परिग्रह से निवृत्त होता हूँ ।

१. क्षेत्र—खेत आदि खुली जमीन ।
२. वास्तु—घर आदि ढंकी हुई जमीन तथा गांव-नगर आदि ।
- ३-४. हिरण्य (चांदी), सुवर्ण (सोना) तथा चांदी-सोना के आभूषण, बर्तन आदि ।
५. धन—रुपये, मोहरें, सिक्के, जवाहरात, वस्त्र आदि ।
६. धान्य—गेहूं, चना, जौ, मक्का आदि ।
७. द्विपद—दो पैर वाले—दास-दासी, नौकर-नौकरानी आदि ।
८. चतुष्पद—चार पैर वाले हाथी, ऊंट, गाय, भैंस आदि ।
९. कुप्य—चांदी, सोना के सिवाय तांबा, लोहा, कांसा, पीतल आदि धातु तथा इनके बने हुए बर्तन तथा बिछौना, पल्यंक, मोटर, साइकिल, वायुयान आदि घर की सामग्री ।

यह नव जाति का परिग्रह है। इसका मैंने जो परिमाण किया है, उसके उपरान्त परिग्रह रखने का जीवन पर्यन्त एक करण तीन योग से प्रत्याख्यान करता हूँ ।

विवेचन

परिग्रह

‘मूर्च्छा परिग्रहः’ जो मूर्च्छा है, वह परिग्रह है। मूर्च्छा का अर्थ ममत्व या आसक्ति है। धन-धान्य आदि पदार्थ मूर्च्छा के हेतु हैं। इसलिए वह परिग्रह है। जड़ या चेतन, छोटी या बड़ी कोई भी वस्तु में आसक्ति रखना, उसमें आत्मा को बांध देना परिग्रह है। इसका फलितार्थ यह है कि रागासक्त वृत्ति से वस्तुओं का ग्रहण करना परिग्रह है। या यों समझ लीजिये कि जो वस्तु प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में हिंसा का साधन है, उस पर ममकार होना परिग्रह है। शरीर भी, जो हिंसा

का साधन है, वह परिग्रह है और जो अहिंसा-साधन में लगा हुआ है, वह परिग्रह नहीं है। व्यवहार नय से बाह्य वस्तुओं को ही परिग्रह कहा जाता है किन्तु निश्चय नय से परिग्रह हिंसा के साधनभूत पदार्थों में होने वाला अनुराग है।

परिग्रह के दो भेद

परिग्रह दो प्रकार का है—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य परिग्रह के क्षेत्र, वास्तु आदि नव भेद बतलाये हैं। आभ्यन्तर परिग्रह चौदह प्रकार का है, जैसे—१ राग २ द्वेष ३ क्रोध ४ मान ५ माया ६ लोभ ७ शोक ८ हास्य ९ रति १० अरति ११ जुगुप्सा १२ भय १३ वेद अर्थात् विकार १४ मिथ्यात्व।

बाह्य परिग्रह आभ्यन्तर परिग्रह का उद्दीपन करने वाला है।

स्थूल परिग्रह विरति

पांचवें अणुव्रत में श्रावक बाह्य परिग्रह का नियन्त्रण करता है। संग्रह की लालसा को सीमित करता है—सर्वथा सब परिग्रह को नहीं त्यागता, अतः यह स्थूल परिग्रह-विरमण-व्रत है। बाह्य पदार्थ सम्बन्धी आशा को रोके बिना आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करना सम्भव नहीं है। बाह्य वस्तुओं की लालसा के त्याग से आभ्यन्तर परिग्रह मन्द होता है। उसकी मंदता से जीव अपरिग्रही बनकर साधना के पथ पर आरूढ़ हो सकता है। इसलिए परिग्रह का परिमाण करना श्रावक के लिए अत्यन्त उपयोगी है। इस व्रत का दूसरा नाम इच्छा-परिमाण है।

इच्छा-परिमाण

इच्छा-परिमाण अर्थात् इच्छा निरोध के तीन प्रकार हैं—व्रत ग्रहण करने के समय अपने पास जितना अर्थ संग्रह है, उससे न्यून कर परिग्रह का परिमाण करना या उसके उपरान्त परिग्रह संचय करने का त्याग करना अथवा उससे अधिक खुलावट रख कर परिग्रह की मर्यादा करना।

प्रश्न—जिसके पास एक लाख रुपये का धन है, वह दो लाख से अधिक परिग्रह रखने का त्याग करता है। यह तो इस व्रत के प्रतिकूल होना चाहिये। इस व्रत का उद्देश्य इच्छा निरोध है, न कि इच्छा विस्तार। क्या ऐसा करना व्रत की परिधि में है?

उत्तर—हां, है। यथाशक्ति व्रत ग्रहण करने वाला यदि दो लाख से कम

परिग्रह में अपनी आशा को सीमित नहीं कर सकता तो वह एक लाख की असत् (पास में न होने वाली) सम्पत्ति को सीमा के अंतर्गत रख लेता है। पर इससे व्रत में कोई बाधा नहीं आती। ऐसा करने से लाभ क्या, यह एक असत् कल्पना है, यह भी नहीं सोचना चाहिए; क्योंकि उस सीमा (दो लाख) के उपरान्त धनोपार्जन का अवसर आ जाए तो भी वह धन का संचय नहीं कर सकता। क्या यह लोभ का संवर नहीं है? यदि वह धन संचय न करने पाये, तो भी अनन्त इच्छा को दो लाख तक सीमित कर देता है, क्या यह इच्छा निरोध नहीं है? अवश्य है। अतः इसकी उपयोगिता में कोई सन्देह नहीं हो सकता।

अतिचार

इस व्रत के पांच अतिचारों का श्रावक को वर्जन करना चाहिये—

१. क्षेत्र-वास्तु-प्रमाणातिक्रम—क्षेत्र और वास्तु (घर) की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिये। अथवा व्रत की अपेक्षा रखते हुए खेत और घर की मर्यादा से अधिक अपने खेत के पार्श्ववर्ती खेत या घर के पार्श्ववर्ती घर को मोल लेकर संख्या वृद्धि के भय से उसकी बाड़ या भीत को हटाकर मर्यादित खेत या घर में मिला लेना अतिचार है।

२. हिरण्य-सुवर्ण-प्रमाणातिक्रम—चांदी-सोने के प्रमाण का अतिक्रमण नहीं करना चाहिये। सोना-चांदी परिमाण से अधिक हो जाये तो व्रत-भंग के डर से उन्हें त्रियत समय के लिए, अवधि पूर्ण होने पर; वापिस लेने की भावना से दूसरे के पास रखना अतिचार है।

३. धन-धान्य-प्रमाणातिक्रम—धन-धान्य की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। धन-धान्य की प्राप्ति होने पर उसे अस्वीकार कर देना परन्तु व्रत भंग के भय से धान्यादि बिक जाने पर ले लूंगा, इस भावना से दूसरे के पास रहने देना अतिचार है।

४. द्विपद-चतुष्पद-प्रमाणातिक्रम—दो पैर वाले दास-दासी, तोता, मैना आदि और चार पैर वाले गाय, भैंस आदि की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। अनुपयोग एवं अतिक्रम की अपेक्षा से यह अतिचार है।

४. कुप्य-प्रमाणातिक्रम—सोने-चांदी के सिवाय अन्य धातु या उनके पात्र अथवा आसन, शयन, रथ आदि गृह-सामग्री की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। नियमित कुप्य से अधिक संख्या में कुप्य मिलने पर व्रत-भंग

के भय से नियमित संख्या को कायम रखने के लिए दो-दो मिलाकर वस्तुओं को बढ़ी कर देना उक्त अतिचार है।

ये पांचों ही अनाभोगादि (अनुपयोगादि) एवं अतिक्रमणादि की अपेक्षा से अतिचार हैं। जान-बूझ कर मर्यादा का उल्लंघन करना अनाचार है।

आलोचना—इनके योग से कोई पाप लगा हो तो वह मेरे लिए निष्फल हो।

परिशिष्ट

‘इच्छा हु आगाससमा अणंतया’ इच्छा आकाश के समान अनन्त है। अनन्त, अपरिमित आशा को परिमित करना इस व्रत का उद्देश्य है। मनुष्य के हृदय में क्रान्ति है, विप्लव है, सक्रियता है; सुख के लिए, ऐश्वर्य के लिए। पर आज तक किसी ने भी इच्छा की उच्छृंखलता में सुख नहीं देखा। आशा के दासत्व में शांति को नहीं छुआ। अतृप्ति के साम्राज्य में अपने को अभय नहीं पाया। कितने ही प्राणी आशा के पाश से बंध कर आत्म-स्वातंत्र्य को खो चुके। आशा पिशाचिनी है, सर्व स्वाहा है, सर्वभक्षी दावानल है। वह सुख नहीं, उसके तन पर सुखाभास का चोला है। भोले आदमी उसे ही असली सुख मान बैठते हैं। फिर दुःख का अनुभव करते हैं। यही तो अविवेक है। असली सुख संतोष है। आत्म-शोधक महात्माओं ने इसकी शोध की है। दुनिया की भलाई के लिए उन्होंने इसका उपदेश दिया है। निःसन्देह यह सुख है, शांति है, परम समाधि है। सुखी बनने का एक मात्र उपाय है।

‘संतोषवता निर्धनेनापि इन्द्रस्य सुखमनुभूयते।’

संतोषी पुरुष धनहीन होता हुआ भी इन्द्र के सुख का अनुभव करता है। असंतोषी समूचे जग का साम्राज्य मिल जाने पर भी सुख-शांति की सांस नहीं लेता।

‘असंतोषवतः कुतः सौख्यं न शक्रस्य न चक्रिणः।’

असंतुष्टचेता देवताओं का स्वामी इन्द्र और षट्खण्ड भूमि का शासक चक्रवर्ती भी सुखी नहीं हो सकता।

सर्वदर्शी भगवान् महावीर की वाणी में आशा दुष्पूर है—

कसिणं पि जो इमं लोयं, पडिपुन्नं दलेज्ज इक्कस्स।

तेणावि से न संतुस्से, इह दुप्पूरए इमे आया।।

१. उत्तरज्झयणाणि ९/१६

मनुष्य की लालसा कितनी प्रबल है। एक मनुष्य को अखण्ड विश्व का स्वामी बना दिया जाए तो भी वह तृप्ति का अनुभव नहीं करता। इच्छित पदार्थ के प्राप्त होने पर भी उसकी पूर्ति नहीं होती।

‘लाहा लोहो पवड्डइ’ लाभ से लोभ बढ़ता है। एक भीखमंगा परिस्थिति के चक्र से राजा हो जाए तो वह सम्राट् होने की चेष्टा करेगा। सम्राट् हो जाए तो सारी पृथ्वी को अपने पंजे में लेने की धुन में लगेगा। यही तो दुःख का बीज-मंत्र है। एक तृष्णा नहीं होती तो क्यों मनुष्य व्यर्थ संग्रह करता? क्यों उसकी रक्षा के लिए सशंक रहता? क्यों विरोध के वृक्ष फलते फूलते? क्यों रक्त की नदिया बहतीं? क्यों मनुष्य मनुष्य के खून का प्यासा होता? क्यों ईर्ष्या की आग भभकती? सब अपने-अपने अधिकार में संतुष्ट रहते तो शांति से जीवन बिताते। अपेक्षाकृत अधिक सुखी होते। केवल आवश्यकता की पूर्ति करते।

धन-धान्य और भूमि—ये आशा की पूर्ति के साधन नहीं, जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं के साधन हैं। भूख को शान्त करने के लिए अन्न है, अन्न को पैदा करने के लिए भूमि है। आवश्यक अन्न और भूमि को पाने के लिए धन है। यह धन-धान्य और भूमि का आवश्यक उपयोग है। ऐसा किये बिना जीवन निर्वाह नहीं हो सकता किन्तु अनावश्यक धन-धान्य को इकट्ठा करना, अनावश्यक भूभाग को रोके रहना, आवश्यक सामग्री का दुरुपयोग है। यह केवल तृष्णा की विडबम्ना है। इस प्रकार की चेष्टा से, अनावश्यक संग्रह से, आत्म-गुणों का लोप होता है। धार्मिक आचरण विकास नहीं पा सकते। हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है। मैत्री का स्रोत सूख जाता है। हड़पने की भावना प्रबल हो उठती है।

व्यर्थ द्रव्य-संग्रह न केवल धार्मिक नियम के ही प्रतिकूल है अपितु देश और समाज की सद्व्यवस्था के भी प्रतिकूल है। इसमें न केवल धार्मिक हानि होती है किन्तु देश और समाज की भी हानि होती है। यदि आवश्यकता के उपरान्त अधिक अर्थ-संग्रह की भावना मनुष्यों में नहीं होती तो भूख से मरना, तन ढकने को कपड़ा नहीं मिलना, रहने के लिए घर नहीं मिलना, इत्यादि साधारण से साधारण संकट सम्भवतः जीवन की घड़ियों में नहीं आते। आर्थिक कठिनाइयों की इतनी अनुभूति नहीं होती। त्राहि-त्राहि की करुण पुकारें इस तरह कानों से नहीं टकरातीं।

आज का वातावरण विचित्र है। अर्थ-संग्रह को प्रोत्साहित किया जा रहा

है। आर्थिक स्थिति जीवन का मापदण्ड है। देश और समाज के महत्त्व की भीति ही अर्थ-संचय है। यही कारण है कि आज की परिस्थिति वास्तविकता से दूर है, अशान्त है, भयानक है और संघर्षमूलक है। एक दूसरे का स्वत्व हड़पने की मानसिकता प्रबल है। धन की स्पर्धा है। धन की उत्कण्ठा है। अति धन-संग्रह ही सभ्यता का मूल सूत्र है, पर यह निश्चय कर लेना चाहिए कि इससे जगत् का भला नहीं हो सकता, अशांति का उच्छेद नहीं हो सकता, दुःख का अन्त नहीं हो सकता।

लाभ लोभ का जनयिता है। लोभ महारम्भ का जनयिता है। महारम्भ अनर्थ का जनक है। अनर्थ अशांति और उद्वेग का उत्पादक है। अतएव यह निश्चित है कि धन-संग्रह की प्रबल भावना और प्रबल प्रयत्न को रोके बिना शांति नहीं हो सकती। सुख और शांति का एक मात्र उपाय संतोष है।

भगवान महावीर का वचन है—‘लोभं संतोसओ जिणे’ लोभ की विजय संतोष से करो। संतोषी पुरुष अपने में ही तृप्त रहता है। वह पिशाची तृष्णा के पाश में नहीं फंसता। अनर्थ से उसका हृदय कांपता है। पाशविक क्रूरता संतोषी को विचलित नहीं कर सकती। आशा का निरोध करने वाला पुरुष उस सुख को बिना प्रयत्न साध लेता है, जिसको लालची लाखों यत्नों से नहीं साध सकता। परिग्रह का मूल्य, महत्त्व और स्पर्धा तब तक ही है जब तक मनुष्य लोभ के इशारे पर नाचता है। किन्तु लोभ की सीमा होते ही वह सब कंकड़ के समान प्रतीत होने लगता है।

जीवन सीमित है। धन असीमित है। लालसा अनन्त है। अतः अमर्यादित लालसाओं की पूर्ति असंभव है। इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति, समाज, जाति और राष्ट्र को हित और सुख शांति की रक्षा के लिए अर्थ-संग्रह की सीमा करना आवश्यक कार्य समझना चाहिए। श्रावक को तो इस व्रत का महान् आदर करना चाहिए।

प्रथम गुणव्रत

छठा दिग्व्रत

मूल पाठ

छट्टं दिसिब्वयं-उड्डुदिसाए जहापरिमाणं अहोदिसाए जहापरिमाणं तिरियदिसाए जहापरिमाणं। एवं मए जहापरिमाणं कयं तओ सेच्छाए काएणं गंतूणं पंचासवासेवणस्स पच्चक्खाणं जावज्जीवाए एगविहं तिविहेणं न करेमि मणसा वयसा कायसा। एअस्स दिसिब्वयस्स छट्टस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा-१ उड्डु-दिसिप्पमाणाइक्कमे २ अहोदिसिप्पमाणाइक्कमे ३ तिरियदि-सिप्पमाणाइक्कमे ४ खेत्तवुड्डी ५ सइअंतरद्धा। जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

छाया

षष्ठं दिग्व्रतं-ऊर्ध्वदिशो यथापरिमाणं अधो-दिशो यथापरिमाणं तिर्यग्-दिशो यथापरिमाणं। एवं मया यथापरिमाणं कृतम् ततः स्वेच्छया कायेन गत्वा पञ्चाश्रवाऽसेवनस्य प्रत्याख्यानं यावज्जीवं एकविधं त्रिविधेन न करोमि मनसा वचसा कायेन। एतस्य दिग्-व्रतस्य षष्ठस्य श्रमणोपासकेन पञ्चातिचाराः ज्ञातव्याः न समाचरितव्याः, तद्यथा-१ ऊर्ध्व-दिक्प्रमाणातिक्रमः २ अधो-दिक्-प्रमाणातिक्रमः ३ तिर्यग्दिक्-प्रमाणातिक्रमः ४. क्षेत्रवृद्धिः ५ स्मृत्यन्तर्द्धा। यो मया दैवसिकः अतिचारः कृतः तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम्।

शब्दार्थ

छट्टं दिसिब्वयं-छट्टा दिग्व्रत

उड्डुदिसाए जहापरिमाणं-ऊर्ध्व दिशा का यथापरिमाण

अहोदिसाए जहापरिमाणं-नीची दिशा का यथापरिमाण

तिरियदिशाए जहापरिमाणं—तिर्यग्-दिशा का यथापरिमाण
 एवं मए जहापरिमाणं कयं—इस प्रकार मैंने जो परिमाण किया है
 तओ—उसके उपरान्त
 सेच्छाए—अपनी इच्छा से
 काएणं गंतूणं—शरीर के द्वारा जाकर
 पंचासवासेवणस्स पच्चक्खाणं—पांच आश्रव सेवन करने का
 प्रत्याख्यान (करता हूँ)

जावज्जीवाए—जीवन पर्यन्त
 एगविहं तिविहेणं—एक करण तीन योग से (पांच आश्रव का सेवन)
 न करेमि—न करूँ

मणसा वयसा कायसा—मन से वचन से शरीर से
 एअस्स दिसिब्बयस्स छट्ठस्स—इस छट्टे दिग्ब्रत के
 समणोवासएणं—श्रावक को
 पंच अइयारा जाणियव्वा—पांच अतिचार ज्ञातव्य हैं
 न समायरियव्वा—समाचरणीय नहीं हैं।

तंजहा—वे इस प्रकार हैं—

उड्ढुदिसिप्पमाणाइक्कमे—ऊर्ध्व-दिशा के परिमाण का उल्लंघन करना।
 अहोदिसिप्पमाणाइक्कमे—नीची दिशा के परिमाण का उल्लंघन करना।
 तिरियदिसिप्पमाणाइक्कमे—तिर्यक् दिशा के परिमाण का उल्लंघन
 करना।

खेत्तवुड्ढी—एक दिशा का परिमाण घटाकर दूसरी दिशा का परिमाण
 बढ़ाना।

सइअंतरद्धा—परिमाण की विस्मृति से संदेह होने पर भी उससे आगे
 जाना।

जो मे देवसिओ—जो मैंने दिन सम्बन्धी
 अइयारो कओ—अतिचार किया हो तो
 तस्स मिच्छामि दुक्कडं—उसका निष्फल हो पाप।

भावार्थ

गुरुदेव! मैं ऊंची, नीची, तिरछी दिशा में जाने का परिमाण करता हूँ। मैं खुद अपनी इच्छा से मर्यादित दिशा से आगे जाकर हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य, परिग्रह—इन पांच आश्रवों का सेवन करने का त्याग करता हूँ। मैं जीवन पर्यन्त मनसा-वाचा-कर्मणा इस व्रत का पालन करूँगा।

विवेचन

अतिचार

इस व्रत के पांच अतिचारों का श्रावक को वर्जन करना चाहिए।

१. ऊर्ध्वदिक्-प्रमाणातिक्रम—ऊंची दिशा में जाने का जो परिमाण किया हो, उसका उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

२. अधोदिक्-प्रमाणातिक्रम—नीची दिशा में जाने का जो परिमाण किया हो, उसका उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

३. तिर्यक्दिक्-प्रमाणातिक्रम—तिरछी दिशा में जाने का जो परिमाण किया हो, उसका उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

असावधानी से ऊर्ध्व, अधः और तिर्यग् दिशा के परिमाण का उल्लंघन करना अतिचार है और जान बूझकर उल्लंघन करना अनाचार है।

४. क्षेत्रवृद्धि—एक दिशा का परिमाण घटाकर दूसरी दिशा का परिमाण नहीं बढ़ाना चाहिए। दोनों दिशाओं के परिमाण का परिवर्तन करने वाला यह जान ले कि मैंने क्षेत्र की सीमा का उल्लंघन तो किया नहीं, केवल एक के बदले में दूसरी दिशा का परिमाण बढ़ाया है—इस प्रकार व्रत की उपेक्षा होने से यह अतिचार है।

५. स्मृत्यन्तर्धान—(स्मृतिभ्रंश) ग्रहण किये हुए परिमाण का स्मरण न रहने पर सन्देह सहित आगे नहीं चलना चाहिए। जैसे किसी ने पूर्व दिशा में १०० योजन से उपरांत जाने की मर्यादा की है। पूर्व दिशा में जाते समय उसे मर्यादा का स्मरण नहीं रहा। वह सोचने लगा कि मैंने पूर्व दिशा में ५० योजन की मर्यादा की है या १०० योजन की। इस प्रकार स्मृति न रहने पर सन्देह सहित ५० योजन से भी आगे जाना अतिचार है।

आलोचना—इन अतिचारों के आचरण से मुझे दोष लगा हो तो वह मेरे लिए निष्फल हो।

गुणव्रत

पांच अणुव्रत के पश्चात् तीन गुण व्रत हैं। 'गुणाय चोपकाराय अणुव्रतानां व्रतं गुणव्रतम्' अणुव्रतों के गुणों को बढ़ाने वाला, उनका उपकार—पुष्टि करने वाला व्रत गुणव्रत कहलाता है। गुणव्रत तीन हैं—

१. दिग्विरति २. भोगोपभोग-विरति ३. अनर्थदण्ड-विरति

दिग्विरति नामक व्रत, व्रत-संख्या के क्रम से छठा व्रत है और गुणव्रत की अपेक्षा पहला गुणव्रत।

प्रयोजन

प्रत्याख्यान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से सम्बन्ध रखता है। हम जिसका त्याग करते हैं, वही उस त्याग का द्रव्य है। उसके स्थान का निश्चय करना त्याग का क्षेत्र है। 'कब तक'—काल की अवधि का विवेक करना त्याग का काल है। राग-द्वेष रहित और उपयोग सहित उसका पालन त्याग का भाव है। श्रावक का त्याग अपूर्ण होता है—आगार (छूट) सहित होता है अतः श्रावक के लिए द्रव्य की तरह क्षेत्र को भी मर्यादित करना जरूरी है।

आचार्य भिक्षु ने बड़े मार्मिक शब्दों में इस व्रत की उपयोगिता बतलाई है—

पांच अणुव्रत धारतां, मोटी बांधी पाल।

छोटारी अव्रत रही, ते पाप आवे दग चाल॥

तिण अव्रत ने मेटवा, पहिलो गुणव्रत देख।

दिशि मर्यादा मांड ने, टाले पाप विशेष॥

श्रावक अणुव्रतों को स्वीकार करते समय सब क्षेत्रों में संकल्पजा हिंसा आदि का प्रत्याख्यान करता है और आरम्भजा हिंसा आदि का आगार रखता है। वह आगार सब स्थानों के लिए खुला रहता है। उसकी कोई सीमा नहीं होती। उस छूट को सीमाबद्ध करने के लिए इस व्रत का विधान किया गया है। इस व्रत के अनुसार श्रावक अमुक-अमुक दिशा में इतनी दूर से आगे जाकर आरम्भजन्य हिंसा आदि का प्रत्याख्यान कर लेता है। फिर वह उस सीमा का उल्लंघन कर आरम्भजा हिंसा का आचरण नहीं कर सकता। यह प्रणाली पांचों व्रतों के लिए समान है। इसमें क्षेत्र संयम का प्राधान्य है।

परिशिष्ट

इस व्रत का उद्देश्य हिंसा आदि पांचों दोषों की निवृत्ति करना है। इन्द्रिय वासनाओं की तृप्ति के लिए, प्राणिवध के लिए, दूसरे के अधिकारों को कुचलने के लिए की जाने वाली भ्रमणशील प्रवृत्ति को रोकने के लिए यह अत्यन्त उपयोगी है। सारे संसार को आप्लावित करने वाले परिग्रहरूपी पानी का वेग रोकने के लिए यह बांध है। दिग्गमन की मर्यादा करने वाला न केवल स्वयं जाने का ही त्याग करता है, अपितु उस सीमा से बाहर रहने वालों के साथ व्यापार का सम्बन्ध, लेन-देन का सम्बन्ध, बाहर से भोग्य वस्तुएं मंगाने एवं परिमाणित क्षेत्र में उन्हें भेजने आदि का भी त्याग करता है।

धार्मिक सूक्ष्मता में इस व्रत का बड़ा भारी महत्त्व है। इससे पांच अणुव्रत बहुत पुष्ट होते हैं। संयम का परिमाण बढ़ता है। जिस शान्ति की स्थापना के लिए विश्व का कण-कण टटोला जा रहा है, उसका मूल बीज इसमें गर्भित है। सबके सब अपने आवश्यक निर्वाह के उपयुक्त सीमा का निश्चय करें और यदि दूर-दूर की परिस्थितियों के अवलोकन का लोभ संवृत न हो सकने पर सुदूर प्रदेशों में जाएं तो भी किसी पर आक्रमण करने के लिए, लूटने के लिए, कूटनीति का चक्र फैलाने के लिए, उन पर शासन करने के लिए, व्यापारिक अधिकारों को ध्वंस करने के लिए, घरेलू लड़ाइयों के बीज बोने के लिए, दूसरों के स्वत्व को छीन कर निज को अधिक ऐश्वर्यशाली बनाने के लिए इत्यादि अपरिमित कलुषित भावनाओं को कार्यरूप देने के लिए नहीं जाएं तो अवश्य ही शांति के दर्शन सुलभ हो जाएंगे। पारस्परिक अविश्वास का अन्त हो जाएगा। संभवतः एक देश का दूसरे देश के साथ प्रवेश-प्रतिरोध, प्रवेश-स्वीकृति के सम्बन्ध भी आज जैसे संदिग्ध और जटिल नहीं रहेंगे। सबके प्रति विश्वास की परम्परा उल्लास पाएगी। मानव समूह को एक कल्पित एवं स्वप्न-प्रतीत सुख की साक्षात् अनुभूति होगी। यह एक सामूहिक लाभ है।

समाज पर विशेष कर इसके अनुशीलन का क्या असर होता है, उस पर भी एक दृष्टि डालनी चाहिए। आज का युग आडम्बर का युग है। बाहरी दिखावे से लोक मंत्र-मुग्ध हैं। लालसाएं बढ़ी-चढ़ी हैं। ऐश-आराम एवं फैशन के लिए कुछ भी कर लेते हैं। इससे आज अनेक समाज दुर्दशा के केन्द्र बन चुके हैं। अनेक काल-कवलित से हो रहे हैं और अनेक कंकाल के रूप में खड़े हैं। इस व्रत की ओर उन्हें आंख उठाने का सौभाग्य प्राप्त हो जाए तो उनका भाग्य

सितारा जाज्वल्यमान मणि की भांति चमक सकता है। कठिनाइयों की कड़ियां टूट सकती हैं। पुनर्जीवन की अमिट रेखा उज्ज्वल हो सकती है। आत्म-संयम के साथ सामाजिक पुरुष और स्त्रियां १०० या २०० मील अथवा परिमाणित क्षेत्र से बाहर बनी हुई आडम्बर की वस्तुओं का उपयोग करना त्याग दें, उनसे जी न ललचाएं, बराबरी की भावना का सत्कार न करें, विलासिता के साधनों की स्पर्धा न करें तो निश्चय ही समाज के संकट भरे दिनों की इतिश्री होकर रहेगी। सुख, शांति, संतोष और मैत्री का पौधा पनपेगा। इसलिए इस व्रत का पालन करना प्रत्येक शुभेच्छु का कर्तव्य है। आत्म-शोधन के साथ-साथ राष्ट्र और समाज का भी इससे बड़ा हित होता है।

दूसरा गणुव्रत

सातवां उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत

मूल पाठ

सत्तमे वए उपभोगपरिभोगविहिं पच्चक्खायमाणे १ उल्लणियाविहि २ दंतवणविहि ३ फलविहि ४ अब्भंगणविहि ५ उव्वट्टणविहि ६ मज्जणविहि ७ वत्थविहि ८ विलेवणविहि ९ पुप्फविहि १० आभरणविहि ११ धूवणविहि १२ पेज्जविहि १३ भक्खविहि १४ ओदणविहि १५ सूवविहि १६ विगयविहि १७ सागविहि १८ महुरविहि १९ जेमणविहि २० पाणीयविहि २१ मुहवासविहि २२ वाहणविहि २३ सयणविहि २४ उवाहणविहि २५ सच्चित्तविहि २६ दव्वविहि इच्चाइणं जहापरिमाणं कयं तओ अइरित्तस्स उवभोगपरिभोगस्स पच्चक्खाणं जावज्जीवाए एगविहं तिविहेणं न करेमि मणसा वयसा कायसा ।

सत्तमे उवभोगपरिभोगव्वए दुविहे पन्नत्ते, तंजहा-भोयणओ कम्मओ य । तत्थ णं भोयणओ समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा-१ सच्चित्ताहारे २ सच्चित्त-पडिबद्धाहारे ३ अप्प-ओलिओसहिभक्खणया ४ दुप्पओलिओसहि-भक्खणया ५ तुच्छोसहि-भक्खणया । जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

छाया

सप्तमे व्रते उपभोगपरिभोगविधि प्रत्याख्यानः १. आर्द्रनयनिकाविधिः २. दन्तवनविधिः ३. फलविधिः ४. अभ्यङ्गनविधिः ५. उद्वर्तनविधिः ६. मज्जन-विधिः ७. वस्त्रविधिः ८. विलेपनविधिः ९. पुष्पविधिः १०. आभरणविधिः ११. धूपनविधिः १२. पेयविधिः १३. भक्ष्यविधिः १४. ओदनविधिः १५. सूप-विधिः १६. विकृतविधिः १७. शाकविधिः १८. मधुरविधिः १९. जेमनविधिः २०. पानीयविधिः २१. मुखवासविधिः

२२ वाहनविधिः २३ शयनविधिः २४ उपानद्विधिः २५ सचित्तविधिः
 २६ द्रव्यविधिः इत्यादीनां यथापरिमाणं कृतम् ततः अतिरिक्तस्य उपभोग-
 परिभोगस्य प्रत्याख्यानं यावज्जीवं एकविधं त्रिविधेन न करोमि मनसा वचसा
 कायेन। सप्तमं उपभोग-परिभोगव्रतं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा-भोजनतः
 कर्मतश्च। तत्र भोजनतः श्रमणोपासकेन पञ्च अतिचाराः ज्ञातव्याः न
 समाचरितव्याः, तद्यथा-१ सचित्ताहारः २ सचित्तप्रतिबद्धाहारः ३ अपक्वौषधि-
 भक्षणता ४ दुष्पक्वौषधिभक्षणता ५ तुच्छौषधिभक्षणता। यो मया देवसिकः
 अतिचारः कृतः तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम्।

शब्दार्थ

सत्तमे वए-सातवें व्रत में
 उपभोगपरिभोगविहि-उपभोग परिभोग विधि का
 पचक्खायमाणे-प्रत्याख्यान करता हुआ
 उल्लणियाविहि-रूमाल विधि
 दंतवणविहि-दंतवन विधि
 फलविहि-फल विधि
 अब्भंगणविहि-तैलमर्दन विधि
 उव्वट्टणविहि-पीठी विधि
 मज्जणविहि-स्नान विधि
 वत्थविहि-वस्त्र विधि
 विलेवणविहि-विलेपन विधि
 पुप्फविहि-पुष्प विधि
 आभरणविहि-आभूषण विधि
 धूवणविहि-धूपन विधि
 पेज्जविहि-पेय विधि
 भक्खविहि-भक्ष्य विधि
 ओदणविहि-ओदन विधि (रंधी हुई चीजे)
 सूवविहि-दाल विधि
 विगयविहि-विगय विधि
 शाकविहि-शाक विधि

महुरविहि—मधुरफल विधि
 जेमणविहि—भोजन विधि
 पाणीयविहि—पानी विधि
 मुहवासविहि—मुखवास विधि
 वाहणविहि—वाहन विधि
 शयणविहि—शयन विधि
 उवाहणविहि—उपानद् (जूता) विधि
 सच्चित्तविहि—सच्चित्त विधि
 दब्बविहि—द्रव्य विधि
 इच्चाइणं जहापरिमाणं कयं—इत्यादि का जो परिमाण किया
 तओ अइरित्तस्स—उससे अधिक
 उवभोग परिभोग पच्चक्खाणं—उपभोग-परिभोग का प्रत्याख्यान
 जावज्जीवाय—जीवन पर्यन्त
 एगविहं तिविहेणं—एक करण तीन योग से
 न करेमि—नहीं करूं
 मणसा वयसा कायसा—मन से वचन से शरीर से।
 सत्तमे उवभोग परिभोगव्वए—सातवां उपभोग परिभोग व्रत
 दुविहे पन्नत्ते—दो प्रकार का प्रज्ञप्त है
 तंजहा—वे इस प्रकार हैं—
 भोयणओ—भोजन से
 कम्मओ य—कर्म से।
 तत्थ णं भोयणओ—उसमें भोजन सम्बन्धी
 समणोवासएणं—श्रावक को
 पंच अइयारा जाणियव्वा—पांच अतिचार ज्ञातव्य हैं
 न समायरियव्वा—समाचरणीय नहीं हैं
 तंजहा—वे इस प्रकार हैं—
 सच्चित्ताहारे—प्रत्याख्यान के उपरान्त सच्चित्त वस्तु का आहार करना

सचित्तपडिबद्धाहारे—सचित्त संयुक्त आहार करना

अप्यओलिओसहिभक्खणया—अपक्व औषधि (धान्य) का भक्षण करना

दुप्यओलिओसहिभक्खणया—अर्द्ध-पक्व औषधि आदि का भक्षण करना

तुच्छोसहिभक्खणया—असार फलादि का भक्षण करना ।

जो मे देवसिओ—जो मैंने दिन सम्बन्धी

अइयारो कओ— अतिचार किया हो तो

तस्स मिच्छामि दुक्कडं—उसका निष्फल हो पाप ।

पणरस कम्मादाणाइं

पन्द्रह कर्मादान

मूल पाठ

कम्मओ णं समणोवासएणं पणरस कम्मादाणाइं जाणियव्वाइं न
समायरियव्वाइं, तंजहा-१ इंगालकम्मे २ वणकम्मे ३. साडीकम्मे ४.
भाडीकम्मे ५ फोडीकम्मे ६ दंतवाणिज्जे ७ केसवाणिज्जे ८ रसवाणिज्जे
९ लक्खवाणिज्जे १० विसवाणिज्जे ११ जंतपीलणकम्मे १२
निल्लंछणकम्मे १३ दवग्गिदावणया १४ सरदहतड़ागपरिसोसणया १५
असईजणपोसणया। जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि
दुक्कडं।

छाया

कर्मतः श्रमणोपासकेन पञ्चदश कर्मादानानि ज्ञातव्यानि न
समाचरितव्यानि, तद्यथा-१ अङ्गारकर्म २ वनकर्म ३ शाकटकर्म
४ भाटककर्म ५ स्फोटकर्म ६ दन्तवाणिज्यं ७ केशवाणिज्यं
८ रसवाणिज्यं ९ लाक्षावाणिज्यं १० विषवाणिज्यं ११ यन्त्रपीलनकर्म
१२ निल्लंछनकर्म १३ दावाग्निदापनता १४ सरोद्रह-तटाकपरिशोषणता
१५ असतीजनपोषणता, यो मया दैवसिकः अतिचारः कृतः तस्य मिथ्या
मे दुष्कृतम्।

पन्द्रह कर्मादान

कम्मओ णं-कर्म से

समणोवासएणं-श्रावक को

पणरस कम्मादाणाइं जाणियव्वाइं-पन्द्रह कर्मादान ज्ञातव्य हैं,

न समायरियव्वाइं-आचरणीय नहीं हैं।

तंजहा-वे इस प्रकार हैं-
 इंगालकम्मे-अंगार कर्म
 वणकम्मे-वन कर्म
 साड़ीकम्मे-शकट कर्म
 भाड़ीकम्मे-भाटक कर्म
 फोड़ीकम्मे-स्फोट कर्म
 दंतवाणिज्जे-दन्त वाणिज्य
 केसवाणिज्जे-केश वाणिज्य
 रसवाणिज्जे-रस वाणिज्य
 लक्खवाणिज्जे-लाक्षा वाणिज्य
 विसवाणिज्जे-विष वाणिज्य
 जंतपीलणकम्मे-यंत्रपीलन कर्म
 निल्लंछणकम्मे-निर्लाछन कर्म
 दवगिदावणया-दावानल कर्म
 सरदहतडागपरिसोसणया-सरोद्रह-तड़ाग शोषणता
 असईजणपोसणया-असतीजन पोषणता
 जो मे देवसिओ-जो मैंने दिन सम्बन्धी
 अइयारो कओ-अतिचार किया हो तो
 तस्स मिच्छामि दुक्कडं-उसका निष्फल हो पाप।

भावार्थ

उपभोग-परिभोग-परिमाण

उपभोग-भोजन आदि एक बार भोग में आने वाले पदार्थ।

परिभोग-वस्त्र, शय्या आदि बार-बार भोग में आने वाले पदार्थ।

उपभोग-परिभोग-पदार्थों का मर्यादा के उपरान्त सेवन करने का प्रत्याख्यान करना उपभोग-परिभोग-परिमाण-व्रत है। यह दो तरह से होता है, भोजन से और कर्म से। उपभोग-परिभोग-पदार्थों का परिमाण से अधिक सेवन करने का प्रत्याख्यान करना, भोजन से उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत है और उनकी प्राप्ति के साधनभूत धन का उपार्जन करने के लिए मर्यादा के उपरान्त व्यापार करने का त्याग करना कर्म से उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत है।

गुरुदेव! सातवें व्रत में 'उल्लणियाविहि' आदि छब्बीस बोल का जो मैंने परिमाण किया है, उसके उपरान्त सब द्रव्यों का जीवन पर्यन्त एक करण तीन योग से त्याग करता हूँ।

विवेचन

अतिचार

इस व्रत के भोजन सम्बन्धी पांच अतिचारों का श्रावक को वर्जन करना चाहिए।

१. सचित्त-आहार-त्याग के उपरान्त सचित्त (जीव सहित) नमक, पानी, वनस्पति आदि का आहार नहीं करना चाहिए।

२. सचित्त-प्रतिबद्धाहार-सचित्त वृक्षादि से संबद्ध फल आदि नहीं खाने चाहिए। अचित्त खजूर आदि फल सचित्त गुठली सहित खाना या बीज सहित पक्के फल को, यह सोचकर कि इसके अचित्त अंश को खा लूंगा और सचित्त अंश को फेंक दूंगा, खाना सचित्त संयुक्त अतिचार है।

३. अपक्व औषधि-भक्षण-बिना पके गेहूं, चावल आदि धान्य का भक्षण नहीं करना चाहिए।

४. दुष्पक्व औषधि-भक्षण-अधपके गेहूं, चावल आदि धान्य को पका हुआ जान कर नहीं खाना चाहिए। (अपक्व एवं दुष्पक्व धान्य अचित्त नहीं होता अतः सचित्त-त्यागी को इनका आहार नहीं करना चाहिए।)

५. तुच्छौषधि-भक्षण-तुच्छ-असार औषधि, जैसे कच्ची मूंगफली वगैरह, जिन्हें खाने में बड़ी विराधना और अल्प तृप्ति होती है, नहीं खाना चाहिए।

ये अनुपयोग तथा अतिक्रम आदि की अपेक्षा से अतिचार हैं, जान-बूझ कर ऐसा करना अनाचार है।

आलोचना-इसके सेवन से दोष लगा हो तो मेरे लिए निष्फल हो।

पन्द्रह कर्मादान-अतिचार

अशुभ कर्मों के प्रबल कारणभूत कर्म या व्यापार का नाम कर्मादान है। कर्मादान संख्या में पन्द्रह हैं। ये कर्म (कार्य या व्यापार) की अपेक्षा इस व्रत के अतिचार हैं।

१. अंगार-कर्म—कोयले बनाकर उसके धन्धे से आजीविका करना। सोना, चांदी, लोहा, तांबा आदि धातुओं को गलाना, ईंट, चूना आदि बनाना इत्यादि। जिन कार्यों में अग्निकाय का महारम्भ हो, वे सब अंगार कर्म हैं।
२. वन-कर्म—जंगल के वृक्षों को काट कर या ऐसे ही उन्हें बेचना तथा पेड़-पत्ते, फल-फूल के आरम्भ से आजीविका चलाना।
३. शाकट-कर्म—गाड़ी, तांगा, मोटर, रथ आदि का व्यापार करना।
४. भाटक-कर्म—गाड़ी, घोड़ा, ऊंट आदि वाहन एवं मकान आदि से भाड़ा कमाने का व्यापार करना।
५. स्फोट-कर्म—कुदाल आदि से भूमि एवं पत्थर आदि को फोड़ना तथा धान्यादि को दल कर आजीविका करना।
६. दंतवाणिज्य—हाथी दांत, मोती, सींग, चर्म, हाड़ इत्यादि त्रस जीव के अवयवों का व्यापार करना।
७. लाक्षावाणिज्य—लाख, मोम आदि का व्यापार करना, हरताल आदि खनिज पदार्थ, गोंद आदि वृक्षज पदार्थों का व्यापार करना, लाक्षावाणिज्य के अंतर्गत है।
८. रसवाणिज्य—घी, दूध, दही तथा मदिरा मांस आदि का व्यापार करना।
९. विषवाणिज्य—कच्ची धातु, अफीम, शंखिया आदि विषैली वस्तु तथा अस्त्र-शस्त्र आदि का व्यापार करना।
१०. केशवाणिज्य—केशों के निमित्त, केश वाले प्राणी—गाय, भैंस, घोड़ा, हाथी आदि का एवं ऊन, रेशम आदि का व्यापार करना।
११. यंत्रपीलन कर्म—तिल, ईख आदि को घाणी या कोल्हूं में पेरना।
१२. निर्लाछन कर्म—बैल आदि को नपुंसक करने का कर्म करना।
१३. दावानल कर्म—खेत या भूमि को साफ करने के लिए जंगलों में आग लगाना।
१४. सरोद्रहतड़ागशोषणता—खेती आदि करने के लिये या जमीन को उपयोगी बनाने के लिए झील, नदी, तालाब आदि को सुखाना।

१५. १असतीजनपोषणता—आजीविका के निमित्त दास, दासी, पशु, पक्षी आदि असंयति जीवों का पोषण करना।

आलोचना—अनुपयोग आदि से मर्यादा के उपरान्त पन्द्रह कर्मादान सम्बन्धी जो कोई अतिचार लगा हो तो वह मेरे लिए निष्फल हो।

उद्देश्य

छठे व्रत एहवा पचखाण, मांहि घणा द्रव्यादिक जान।
तेहनी अव्रत टालण काज, सातवों व्रत कह्यो जिनराज ॥

(श्री भिक्षु स्वामी)

छठे व्रत में श्रावक मर्यादित दिशा से आगे जाकर पांच आश्रव सेवन का और भोग्य वस्तुओं के क्रय-विक्रय या आदान-प्रदान का संयम करता है। सीमा की अन्तर्वर्ती सब वस्तुएं आवश्यक नहीं होती। निरर्थक ही उन पर आशा का चक्र घूमता है। असंयम प्रबल होता है। भोग्य सामग्री को प्रमाणातिरेक पाने की आकांक्षा से मनुष्य में वित्तोपार्जन की चेष्टा बढ़ती है, उससे प्रेरित मानव व्यापार का आश्रय लेता है और अधिक से अधिक लोलुपता से महारम्भ वाला काम करता है। इसीलिए मर्यादित क्षेत्र के अन्दर मिलने वाले भोग्य पदार्थ और उनकी प्राप्ति के निमित्त किये जाने वाले व्यापार पर नियंत्रण करने के लिए इस व्रत का निर्माण किया गया है।

परिशिष्ट

निर्वाह और लालसा दो चीजें हैं। खाद्य, पेय, परिधेय आदि पदार्थ निर्वाह के साधन हैं, इनसे जीवन-निर्वाह होता है, लालसाओं की पूर्ति नहीं। अनियंत्रित लालसा सब तरह से मनुष्य को हानि पहुंचाती है। शारीरिक एवं मानसिक वृत्तियां उत्पीड़ित रहती हैं अतएव उनका परिमाण करना सर्वथा हितकर है।

एक मनुष्य सब चीजों को व्यवहार में नहीं ला सकता, सबका उपभोग नहीं कर सकता—इस दशा में क्यों वह अधिक आशा का भार अपने सिर पर ढोये और क्यों उनकी प्राप्ति के हेतु महारम्भकारी व्यावसायिक वृत्तियों की धुन में चक्कर लगाए? किन्तु लालसा की अमिट रेखा ने मनुष्यों को यहां तक

१. सारिका-शुक-मार्जार-श्व-कुक्कुटकलापिनाम्।

पोषो दास्याश्च वृत्तार्थमसती पोषणं विदुः॥

योगशास्त्र—हेमचन्द्राचार्य (सप्तम व्रत)

विह्वल बना रखा है कि ये मद्य और मांस जैसे उन्मादक व्यापार से भी अपने को विलग नहीं रख पाते। क्या इसके बिना जीवन नहीं चल सकता? अथवा वे उस धन राशि से प्राप्त भोग-सामग्री का सदा उपभोग करते रहेंगे? नहीं, तो यह क्यों? यह निर्वाह का दोष नहीं, यह दोष लालसा का है। अतएव प्रस्तुत व्रत भोगोपभोग की अभिलाषाओं को सीमित करने का उपदेश करता है। जैसे—मर्यादित क्षेत्र में उपभोग-परिभोग की विपुल सामग्री है, उसका अनावश्यक संग्रह मत करो, महा आरम्भ वाले व्यापार से वासनाओं को पूर्ण करने का चिन्तन मत करो। ऐसा करना अपने सुख के लिए दूसरों को दुःखी बनाना है, हिंसावृत्ति को प्रोत्साहन देना है। श्रावक को इस प्रकार की चेष्टा से विरत रहना चाहिए। आत्म-संयम की अनन्त महिमा को दृष्टि से ओझल नहीं करना चाहिए।

आत्म-संयम एक महान् सुख है। उसकी उपासना से अनेक भौतिक सिद्धियां अपने आप मिलती हैं। उनके लिए अलग आयास करने की कोई आवश्यकता नहीं। इस व्रत के कई लाभ तो हमारे प्रत्यक्ष हैं, जैसे—आर्थिक कठिनाइयां, मनमानी बुराइयां, धन का अपव्यय आदि परिस्थितियों का चक्र इसके अनुशीलन से अपने आप लुप्त हो जाता है। इसके मूल में समष्टि का लाभ अन्तर्निहित है। तत्त्वज्ञ थोड़े में ही बहुत कुछ समझ सकेंगे।

तीसरा गुणव्रत आठवां अनर्थदंडविरमण व्रत

मूल पाठ

अट्टमं अणट्टदंड-वेरमणव्वयं। सेय अणट्टदंडे चउव्विहे पन्नत्ते तंजहा-१ अवज्झाणाचरिए २ पमायाचरिए ३ हिंसप्पयाणे ४ पावकम्मोवएसे। इच्चेवमाइस्स अणट्टदंडासेवणस्स पच्चक्खाणं जावज्जीवाए दुविहं तविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा। एअस्स अट्टमस्स अणट्टदंडवेरमणस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तंजहा-१ कंदप्पे २ कुक्कुइए ३ मोहरिए ४ संजुत्ताहिकरणे ५ उवभोग-परिभोगातिरित्ते। जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

छाया

अष्टमं अनर्थ-दण्डविरमणव्रतं। स च अनर्थदण्डः चतुर्विधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा-१ अपध्यानाचरितं २ प्रमादाचरितं ३ हिंस्रप्रदानम् ४ पापकर्मोपदेशः इत्येवमादेः अनर्थदंडाऽसेवनस्य प्रत्याख्यानं जावज्जीवं द्विविधं त्रिविधेन न करोमि न कारयामि मनसा वचसा कायेन। एतस्य अष्टमस्य अनर्थ-दंड-विरमणस्य श्रमणोपासकेन पञ्च अतिचाराः ज्ञातव्याः न समाचरितव्या, तद्यथा-१ कन्दर्पः २ कौत्कुच्यम् ३ मौखर्यम् ४ संयुक्ताधिकरणं ५ उपभोग-परिभोगातिरिक्तं। यो मया दैवसिकः अतिचारः कृतः तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम्।

शब्दार्थ

अट्टमं अणट्टदंडवेरमणव्वयं—आठवां अनर्थदण्ड विरमण-व्रत

सेय अणट्टदंडे—वह अनर्थदण्ड

चउव्विहे पन्नत्ते—चार प्रकार का प्रज्ञप्त है

तंजहा—वे इस प्रकार हैं—
 अवज्झाणाचरिण्—अपध्यान का आचरण करना
 पमायाचरिण्—प्रमाद का आचरण करना
 हिंसप्पयाणे—हिंसाकारी शस्त्रों का प्रयोग करना
 पावकम्मोवएसे—पाप कर्म उपदेश करना
 इच्चेवमाइस्स—इत्यादि
 अणट्टुदंडासेवणस्स पच्चक्खाणं—अनर्थदण्ड के सेवन का प्रत्याख्यान
 जावज्जीवाए—जीवनपर्यन्त
 दुविहं तिविहेणं—दो करण तीन योग से (अनर्थदण्ड का सेवन)
 न करेमि, न कारवेमि—नहीं करूं नहीं कराऊं
 मणसा वयसा कायसा—मन से वचन से शरीर से
 एअस्स अट्टमस्स अणट्टुदंडवेरमणस्स—इस आठवें अनर्थदण्ड विरमण-
 व्रत के

समणोवासएणं—श्रावक को
 पंच अइयारा जाणियव्वा—पांच अतिचार ज्ञातव्य हैं,
 न समायरियव्वा—आचरणीय नहीं हैं
 तंजहा—वे इस प्रकार हैं—
 कंदप्पे—कामोद्दीपक कथा करना
 कुक्कुइए—भांड की भांति कुचेष्टा करना
 मोहरिण्—बिना प्रयोजन अधिक बोलना
 संजुत्ताहिकरणे—अधिकरण शस्त्रों को एक साथ रखना
 उवभोगपरिभोगतिरित्ते—उपभोगपरिभोग-वस्तुओं को अधिक रखना
 जो मे देवसिओ—जो मैंने दिन सम्बन्धी
 अइयारो कओ—अतिचार किया हो तो
 तस्स मिच्छामि दुक्कडं—उसका निष्फल हो पाप ।

भावार्थ

अनर्थदण्ड

अपने शरीर, पुत्र, पुत्री, परिवार, नौकर, चाकर, समाज, देश, कृषि, व्यापार आदि के अर्थ-निमित्त कार्य करने में होने वाली हिंसा अनर्थदण्ड है। इसके अतिरिक्त बिना किसी आवश्यक प्रयोजन के प्रमादादिवश प्राणियों का पूर्ण या अपूर्ण वध करना अनर्थदण्ड है अर्थात् अप्रायोजनिक हिंसा है।

विवेचन

अनर्थदण्ड के चार भेद

१. **अपध्यानाचरित**—जिस चिन्तन से—एकाग्रता से पाप अर्थात् अशुभ कर्म का बन्ध होता है, वह अपध्यान है।

अपध्यान के दो भेद हैं—आर्त्त और रौद्र।

अप्रिय वस्तु का संयोग हो जाने पर, प्रिय वस्तु का वियोग हो जाने पर अप्रिय के वियोग और प्रिय के संयोग की सतत चिन्ता करना, वेदना-पीड़ा की निवृत्ति के लिए व्याकुल हो उठना तथा निदान—मैं अमुक-अमुक हो जाऊँ, ऐसा संकल्प करना आर्त्तध्यान है।

हिंसा, असत्य, चोरी और प्राप्त विषय-भोग के संरक्षण के लिए चिन्तन करना रौद्रध्यान है।

प्रयोजन के सिवाय आर्त्त और रौद्र ध्यान में प्रवृत्त होना अपध्यानाचरित अनर्थदण्ड है।

२. **प्रमादाचरित**—मदोन्मत्त की तरह बिना प्रयोजन अपशब्द बोलना, प्रहार करना या मार डालना एवं साधारणतया घी, तैल, चासनी के पात्र को खुला रखना आदि प्रमादाचरण है।

३. **हिंस्रप्रदान**—निरर्थक हिंसा के स्थानों में हिंसाकारी अस्त्र-शस्त्र देना।

४. **पापकर्मोपदेश**—बिना मतलब पापकारी कार्यों का उपदेश देना, जैसे—चोर को मार डालो, हिंस्र पशुओं को मारो, वृक्षों को काटो इत्यादि।

व्रत ग्रहण विधि

गुरुदेव! मैं जीवनपर्यन्त दो करण तीन योग से अनर्थदण्ड सेवन करने का

प्रत्याख्यान करता हूँ। मैं स्वयं अनर्थदण्ड का आचरण नहीं करूंगा मन से, वाणी से, शरीर से। नहीं कराऊंगा मन से, वाणी से, शरीर से।

अतिचार

इस व्रत के पांच अतिचारों का श्रावक को वर्जन करना चाहिए।

१. कंदर्प—कामोद्दीपक कथा नहीं करनी चाहिए। मोह को जगाने वाली हास्य-मिश्रित मजाक नहीं करनी चाहिए।

२. कौत्कुच्य—भांड की तरह भौंहे, नेत्र, मुंह, हाथ-पैर आदि शरीर के अवयवों को विकृत बनाकर दूसरों को हंसाने की चेष्टा नहीं करनी चाहिये।

३. मौखर्य—ढिठाई के साथ असभ्य, असम्बद्ध एवं निरर्थक वचन नहीं बोलने चाहिये।

४. संयुक्ताधिकरण—हिंसाकारी अस्त्र-शस्त्रों को सजा करके नहीं रखना चाहिये। जैसे—बन्दूक को गोली भर कर रखना, धनुष को बाण चढ़ा कर रखना, ऊखल-मूसल को, शिला लोढे को एक साथ रखना। इसका कारण यह है कि अस्त्र-शस्त्रादि को सजा कर रखने से तुरन्त आवेश में अनर्थ हिंसा हो सकती है। अन्य कोई भी उनका उपयोग कर सकता है।

५. उपभोग-परिभोगातिरेक—अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, आभूषण आदि उपभोग-परिभोग की वस्तुओं का निज और आत्मीय जनों की आवश्यकता के उपरान्त संचय नहीं करना चाहिये।

आलोचना—इनके आचरण से अतिचार-दोष लगा हो तो वह मेरे लिए निष्फल हो।

कंदर्प, कौत्कुच्य एवं उपभोगपरिभोगातिरेक—ये तीनों प्रमादाचरित-विरति के अतिचार हैं। संयुक्ताधिकरण हिंस्रप्रदान-विरति का अतिचार है। मौखर्य पापकर्मोपदेश-विरति का अतिचार है। अतिचारों का असावधानी से चिन्तन करना अपध्यान-विरति का अतिचार है।

अतिचार

श्रावक अपनी सामर्थ्य के अनुसार हिंसा आदि का परित्याग करने के लिए अहिंसा अणुव्रत से लेकर उपभोग-परिभोग व्रत तक के सात व्रतों को स्वीकार करता है। श्रावक जितना जितना त्याग करता है वह धर्म है, जितना-जितना आगार रखता है वह अधर्म है। आगार के दो पहलू हैं—एक तो उस (खुलावट)

का प्रयोग प्रयोजन सहित करे और एक निरर्थक ही। प्रयोजन-सहित दण्ड को श्रावक सामर्थ्य की कमी के कारण छोड़ नहीं सकता। पर अनर्थदण्ड में श्रावक को प्रवृत्त नहीं होना चाहिये। इसी उद्देश्य से श्रावक को अनर्थ हिंसा आदि दोषों से निवृत्त करने के लिए अनर्थदण्ड-विरमण-व्रत का सृजन किया गया है।

परिशिष्ट

जीवन में संयोग-वियोग का एक महान् विप्लव है। संयोग के पीछे वियोग और वियोग के पीछे संयोग है। संयोग में जो सुख मानता है, वह वियोग में आक्रन्दन करता है। संयोग-वियोग में एक समान वृत्ति रखने वाला पुरुष न तो अति स्निग्ध कर्मावृत्त होता है और न अति आसक्त। इसलिए संयोग-वियोग के अवसर पर, वेदना का प्रादुर्भाव हो जाने पर समभाव रखना, कष्ट को समचित्त से सहना इत्यादि उपदेश का स्रोत अपध्यानाचरित के प्रथमांश त्याग का प्रवाह है। किसी को पीड़ित देखकर सुख मानना, वह मर जाए, इसका सत्यानाश हो जाए, यह पराजित हो जाये, इस प्रकार का चिन्तन करना, असत् अर्थ के प्रकाशित करने की, सत् अर्थ का अपलाप करने की, दिल को गहरी चोट पहुंचाने वाले वचन बोलने की, दिल को दहलाने वाला मखौल करने की सोचते रहना आदि-आदि आसुरी वृत्तियों का अन्त करने के लिए अपध्यानाचरित का दूसरा अंश सजीव है।

मार्ग में चलते पथिक को गाली देना, पर्व के नाम पर बीभत्स चेष्टाएं करना, गंदी गालियां बोलना, जान-बूझकर चींटी आदि को कुचल डालना, मार्ग होते हुए भी वनस्पति को पैरों तले रौंदते चलना, बिना मतलब वृक्षों की टहनियां, पत्ते, फल-फूल तोड़ना, तालाब आदि जलाशयों में गन्दी चीजें फेंकना, दारु, ईंधन, वन आदि में शून्य चित्त से आग लगने वाली चीजें फेंकना, विषय में अत्यासक्त होना, विकथा करना, गांव का मैल धोना आदि आदि अनार्य आचरणों से बचने के लिए प्रमादाचरित को त्यागना नितान्त आवश्यक है।

शस्त्रास्त्र हिंसा के प्रबल साधन हैं। उनका अविवेकपूर्ण व्यवहार या लेन-देन करना उत्कट अनर्थ का हेतु बन जाता है। सुरक्षा के मिष वह विकास को पाता है। आखिर एक दिन उसी यज्ञानुष्ठान में मनुष्य को अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ती है। जब मनुष्य का निर्माण मनुष्य का संहार करता है, मनुष्य का बौद्धिक विकास मनुष्य के सर्वस्व को लुटा देता है तब उसकी शान्त और करुण दृष्टि अपने कृतकार्यों का अवलोकन करती है, बौद्धिक विकास भी करवट

बदलता है। तब शस्त्रास्त्रों के अल्पीकरण या निःशस्त्रीकरण की समस्याओं पर रहस्यभरी दृष्टि डालता है पर अहिंसा की शान्त मूर्ति का साक्षात्कार किए बिना वह केवल प्रस्तावों के उलट-फेर में असफल रह जाता है या अस्त हो जाता है। किन्तु धर्मतत्त्ववेदी श्रावक को अहिंसा एवं संतोष को मद्देनजर रखते हुए हिंसाकारी शस्त्रास्त्रों का निरर्थक आदान-प्रदान कर विश्व को उत्पीड़ित करने का हेतु नहीं बनना चाहिए। इसीलिए हिंस्रप्रदान का नियम जरूरी होने के साथ-साथ अत्यधिक सुख-कारक है।

निरर्थक पाप कर्म का उपदेश करना आत्म-संयम के विपरीत ही है। यही अनर्थदण्ड-विरमण-व्रत का परमार्थ है।

प्रथम शिक्षाव्रत

नवम सामायिक व्रत

मूल पाठ

नवमं सामाङ्ग्यव्ययं सावज्ज-जोग-वेरमणरूवं जावनियमं पज्जुवासामि दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा । एअस्स नवमस्स सामाङ्ग्यव्ययस्स समणोवासएणं पंच अङ्गारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा-१ मणदुप्पणिहाणे २ वयदुप्पणिहाणे ३ काय-दुप्पणिहाणे ४ सामाङ्ग्यस्स सङ्ग अकरणया ५ सामाङ्ग्यस्स अणवट्ठियस्स करणया ।

छाया

नवमं सामायिकव्रतं सावद्य-योग-विरमणरूपं यावत् नियमं पर्युपासे द्विविधं त्रिविधेन न करोमि न कारयामि मनसा वचसा कायेन । एतस्य नवमस्य सामायिकव्रतस्य श्रमणोपासकेन पञ्च अतिचाराः ज्ञातव्याः न समाचरितव्याः, तद्यथा-१ मनोदुष्प्रणिधानं २ वाग्दुष्प्रणिधानं ३ कायदुष्प्रणिधानं ४ सामायिकस्य स्मृत्यङ्कणता ५ सामायिकस्य अनवस्थितस्य करणता ।

शब्दार्थ

नवमं सामाङ्ग्यव्ययं—नौवां सामायिकव्रत
सावज्ज जोग वेरमणरूवं—सावद्य योग विरमण-व्रत
जावनियमं पज्जुवासामि—जब तक नियम का पालन करूं
दुविहं तिविहेणं—दो करण तीन योग से (सावद्य व्यापार)
न करेमि—नहीं करूं
न कारवेमि—नहीं कराऊं
मणसा वयसा कायसा—मन से वाणी से शरीर से

एअस्स नवमस्स सामाइयव्वयस्स—इस नौवें सामायिक व्रत के
 समणोवासएणं—श्रावक को
 पंच अइयारा जाणियव्वा—पांच अतिचार ज्ञातव्य हैं,
 न समायरियव्वा—आचरणीय नहीं हैं
 तंजहा—वे इस प्रकार हैं—
 मणदुप्पणिहाणे—मन की सावद्य प्रवृत्ति की हो
 वयदुप्पणिहाणे—वचन की सावद्य प्रवृत्ति की हो
 कायदुप्पणिहाणे—शरीर की सावद्य प्रवृत्ति की हो
 सामाइयस्स सइ अकरणया—सामायिक की स्मृति न रखी हो
 सामाइयस्स अणवट्टियस्स करणया—सामायिक को नियत समय से
 पहले पूरा किया हो।

भावार्थ

भंगवन्! मैं सावद्य योग विरमणरूप सामायिक-व्रत को ग्रहण करता हूँ।
 जब तक (एक मुहूर्त तक) इस व्रत का पालन करूँ तब तक मन, वचन और
 शरीर की सावद्य अर्थात् पाप सहित प्रवृत्ति स्वयं नहीं करूँगा, दूसरों से नहीं
 कराऊँगा।

विवेचन

अतिचार

इस व्रत के पांच अतिचार श्रावक को जानने चाहिए—

१. मनोदुष्प्रणिधान—मन की सावद्य प्रवृत्ति अर्थात् गृह-कार्य, व्यापार,
 आरम्भ-समारम्भ, हिंसा आदि पांच आश्रव सम्बन्धी चिन्तन नहीं करना
 चाहिए।

२. वाग्दुष्प्रणिधान—वाणी का सावद्य प्रयोग अर्थात् असभ्य, कटु,
 छेदन-भेदनकारी, आघात पहुंचानेवाला वचन नहीं बोलना चाहिए। खुले मुंह
 नहीं बोलना चाहिए। गृहस्थ को आओ, चले जाओ, बैठ जाओ, अमुक काम
 करो इत्यादि सामायिक व्रत के प्रतिकूल आदेश नहीं देना चाहिए।

३. कायदुष्प्रणिधान—शरीर की सावद्य प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए। बिना
 देखे, बिना पूंजे उठना, बैठना, चलना आदि नहीं करना चाहिए। प्राणातिपात
 आदि आश्रवों में शरीर को नहीं लगाना चाहिए।

४. सामायिक स्मृत्यऽकरणता—सामायिक की विस्मृति नहीं करनी चाहिए। जैसे—सामायिक व्रत को ग्रहण कर प्रमाद वश उसे भूल जाना, व्रत सम्बन्धी नियमों की सार-संभाल न रखना।

५. अनवस्थित सामायिककरण—सामायिक का कालमान एक मुहूर्त्त है। उससे पहले सामायिक को पूरा नहीं करना चाहिए। अस्थिरता से सामायिक को ज्यों-त्यों पूरा नहीं करना चाहिए।

ये सब अनुपयोग एवं अतिक्रमादि की अपेक्षा से अतिचार हैं।

विवेचन

शिक्षा व्रत

बार-बार अभ्यास करने योग्य व्रतों का नाम शिक्षाव्रत है। प्राक्कथित आठ व्रतों की तरह शिक्षाव्रत का ग्रहण यावज्जीवन के लिए नहीं होता। इनका कालमान पृथक्-पृथक् है। शिक्षाव्रत चार हैं—

१. सामायिक व्रत
२. देशावकाशिक व्रत
३. पौषधोपवास व्रत
४. अतिथि संविभाग व्रत

सामायिक व्रत पहला शिक्षाव्रत है एवं पूर्व संख्या के क्रम से नौवां व्रत है। आध्यात्मिक आराधना एवं सद्आचरणों का अभ्यास करने के लिए सामायिक व्रत का अनुशीलन महान् लाभप्रद है। इसका विशेष विवरण सामायिक प्रतिज्ञा (पृ. ३२-३७) में द्रष्टव्य है।

दूसरा शिक्षाव्रत दसवां देशावकाशिक-व्रत

मूल पाठ

दसमं देसावगासियव्वयं दिण-मज्झे पच्चूसकालाओ आरब्भ पुव्वादिसु छसु दिसासु जावइयं परिमाणं कयं तओ अइरित्तं सेच्छाए काएणं गंतूणं अत्रे वा पहिऊण पंचासवासेवणस्स पच्चक्खाणं जाव अहोरत्तं दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा । अह य छसु दिसासु जावइयं परिमाणं कयं तम्मज्झेवि जावइयाणं दव्वाणं परिमाणं कयं तओ अइरित्तस्स भोगोवभोगस्स पच्चक्खाणं जाव अहोरत्तं एगविहं तिविहेण न करेमि मणसा वयसा कायसा । एअस्स दसमस्स देसावगासियव्वयस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा-१ आणवणप्पओगे २ पेसवणप्पओगे ३ सहाणुवाए ४ रूवाणुवाए ५ बहियापुगलपक्खेवे । जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

छाया

दशमं देशावकाशिकव्रतं दिनमध्ये प्रत्यूषकालाद् आरभ्य पूर्वादिषु षट्षु दिक्षु यावत्कं परिमाणं कृतं ततोऽतिरिक्तं स्वेच्छया कायेन गत्वा अन्यान् वा प्रेष्य पञ्चाश्रवाऽसेवनस्य प्रत्याख्यानं यावत् अहोरात्रं द्विविधं त्रिविधेन न करोमि न कारयामि मनसा वचसा कायेन । अथ च षट्षु दिक्षु यावत्कं परिमाणं कृतं तन्मध्येऽपि यावतां द्रव्याणां परिमाणं कृतं ततोऽतिरिक्तस्य भोगोपभोगस्य प्रत्याख्यानं यावत् अहोरात्रं एकविधं त्रिविधेन न करोमि मनसा वचसा कायेन । एतस्य दशमस्य देशावकाशिकव्रतस्य श्रमणोपासकेन पञ्च अतिचाराः ज्ञातव्याः न समाचरितव्याः, तद्यथा-१ आनयनप्रयोगः २ प्रेष्यबलप्रयोगः ३ शब्दानुपातः ४ रूपानुपातः ५ बहिःपुद्गलप्रक्षेपः । यो मया दैवसिकः अतिचारः कृतः तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम् ।

शब्दार्थ

दसमं देसावगासियव्वयं—दसवां देशावकाशिक व्रत
 दिण-मज्झे पच्चूसकालाओ आरब्भ—दिन में प्रभात काल से लेकर
 पुव्वादिसु छसु दिसासु—पूर्वादि छः दिशाओं में
 जावइयं परिमाणं कयं—जितना भूमि का परिमाण किया
 तओ अइरित्तं—उससे उपरान्त
 सेच्छाए—स्वेच्छापूर्वक
 काएणं गंतूणं—काया से जाकर
 अन्ने वा पहिऊण—अथवा अन्य को भेजकर
 पंचासवासेवणस्स पच्चक्खाणं—पांच आश्रव द्वारा सेवन करने का
 प्रत्याख्यान

जाव अहोरत्तं—यावत् दिन-रात
 दुविहं तिविहेणं—दो करण तीन योग से
 न करेमि न कारवेमि—न करूं न कराऊं
 मणसा वयसा कायसा—मन से वाणी से शरीर से
 अह य—और
 छसु दिसासु—छहों दिशाओं में
 जावइयं परिमाणं कयं—जितना परिमाण किया
 तम्मज्जेवि—उनमें
 जावइयाणं दव्वाणं परिमाणं कयं—जितने द्रव्यों का परिमाण किया
 तओ अइरित्तस्स—उसके उपरान्त
 भोगोपभोगस्स पच्चक्खाणं—भोगोपभोग का प्रत्याख्यान
 जाव अहोरत्तं—यावत् दिन रात
 एगविहं तिविहेणं—एक करण तीन योग से
 न करेमि—न करूं
 मणसा वयसा कायसा—मन से वाणी से शरीर से
 एअस्स दसमस्स—इस दसवें
 देसावगासियव्वयस्स—देशावकाशिक व्रत के

समणोवासएणं—श्रावक को
 पंच अइयारा जाणियव्वा—पांच अतिचार जानने चाहिये
 न समायरियव्वा—आचरण नहीं करना चाहिये
 तंजहा—वे इस प्रकार हैं—
 आणवणप्पओगे—मर्यादित क्षेत्र से बाहर की वस्तु मंगाना
 पेसवणप्पओगे—मर्यादित क्षेत्र से बाहर वस्तु भोजना
 सद्धानुवाए—शब्द के द्वारा मनोगत भावों का ज्ञान कराना
 रूवाणुवाए—रूप दिखा कर मन का भाव प्रगट करना
 बहियापुगगलपक्खेवे—कंकर आदि फेंक कर भाव जताना
 जो मे देवसिओ—जो मैंने दिन सम्बन्धी
 अइयारो कओ— अतिचार किया हो तो
 तस्स मिच्छामि दुक्कडं—उसका निष्फल हो पाप ।

विवेचन

व्रत स्वरूप

छठे व्रत में जो दिशाओं का प्रमाण किया है, उसका तथा अन्य सब व्रतों का प्रतिदिन संकोच करना देशावकाशिक व्रत है। यद्यपि मूल पाठ में दिग्व्रत के आगार का संकोच करने को देशावकाशिक व्रत कहा है तथापि दिग्व्रत के उपलक्षण से (अनुसार) सब अणुव्रत एवं गुणव्रत के रखे हुए आगारों का परिमित काल के लिए संकोच करना देशावकाशिक व्रत है। अतएव उपभोग-परिभोग के २६ बोल, १५ कर्मादान, १४ नियम आदि का समय की अवधि से त्याग करना एवं नमस्कार-सहिता (नवकारसी) पौरुषी, उपवास, बेला, तेला यावत् छह मास तक की तपस्या करना, इत्यादि सब देशावकाशिक-व्रत के अन्तर्गत हैं।

व्रत-ग्रहण विधि

गुरुदेव ! मैंने दशवें देशावकाशिकव्रत में प्रतिदिन प्रभात काल से पूर्व आदि छहों दिशाओं में जितनी भूमि का परिमाण किया है उसके उपरांत स्वेच्छापूर्वक अपने आप जाकर अथवा अन्य किसी को भेजकर दो करण तीन योग से (न करुं, न कराऊं; मनसा, वाचा, कर्मणा) पांच आश्रव सेवन करने का प्रत्याख्यान करता हूं और छहों दिशाओं में भी जितने क्षेत्र का परिमाण किया है, उसमें भी जितने द्रव्यों का प्रमाण किया है, उनसे अधिक उपभोग-परिभोग वस्तुओं को

व्यवहार में लाने का एक करण तीन योग से प्रत्याख्यान करता हूं।

अतिचार

इस व्रत के पांच अतिचार श्रावक को जानने चाहिए।

१. आगमन-प्रयोग—मर्यादा किये हुए क्षेत्र से बाहर स्वयं न जा सकने के कारण, दूसरे को 'तुम यह चीज लेते आना' इस प्रकार सन्देश देकर बाहर की वस्तुएं नहीं मंगानी चाहिए।

२. प्रेष्य-प्रयोग—मर्यादित क्षेत्र से बाहर आज्ञाकारी पुरुषों के द्वारा वस्तुएं नहीं भेजना चाहिए।

३. शब्दानुपात—मर्यादित क्षेत्र के बाहर काम कराने के लिये जम्हाई, खांसी आदि शब्दों के द्वारा भाव नहीं दिखाना चाहिये।

४. रूपानुपात—नियमित क्षेत्र के बाहर प्रयोजन होने पर कार्य कराने के लिए अपना रूप—आकृति के भाव या पदार्थ का उपक्रम नहीं करना चाहिये।

५. बहिःपुद्गल-प्रक्षेप—नियमित क्षेत्र से बाहर प्रयोजन होने पर दूसरों को जताने के लिए तृण, कंकड़, मिट्टी आदि नहीं फेंकना चाहिए।

पहले दो अतिचार अतिक्रम या अनुपयोग की अपेक्षा से हैं और अन्तिम तीनों में व्रत की अपेक्षा रहने के कारण कपट-युक्त अतिचार हैं।

आलोचना—इनके आचरण से दोष लगा हो तो वह मेरे लिये निष्फल हो।

व्रत विधान

दिग्व्रत एवं उपभोगपरिभोग-परिणाम-व्रत का अधिक कठोर अनुशीलन करने के लिए देशावकाशिक-व्रत का विधान किया गया है। दिग्व्रत में गमनागमन का प्रमाण और प्रमाणित क्षेत्र से बाहर हिंसा आदि के आचरण का त्याग यावज्जीवन के लिये किया जाता है। गमनागमन की सीमा के अन्तर्वर्ती वस्तुओं के व्यवहार का यावज्जीवन प्रमाण करने के लिए भोगोपभोग-परिणाम-व्रत विहित है, तब विधान-नियम के अनुसार सावधिक परिमाण की आवश्यकता का अनुभव होता है। एतदर्थ ही देशावकाशिक-व्रत का विधान अपेक्षित है।

सरल शब्दों में यों कहा जा सकता है कि जिस प्रकार अणुव्रतों का क्षेत्र सीमित करने के लिये दिग्व्रत हैं, उसी प्रकार उनका परिमित काल तक अधिक संकोच करने के लिये देशावकाशिक-व्रत है।

प्रतिदिन आवश्यकताओं का अधिकतर संकोच करना इस व्रत का मुख्य फल है। क्योंकि यावज्जीवन के लिए किये जाने वाले हिंसा आदि के परिमाण उतने संकुचित नहीं होते जितने एक मुहूर्त्त, एक दिन या सावधिक समय के लिए हो सकते हैं। यावज्जीवन १००० कोस के उपरान्त जाकर हिंसा आदि दोषाचरण को त्यागने वाला व्यक्ति परिमित काल—एक दो दिनों के लिए १०-२० या ५० कोस के आगे उनका त्याग सहज ही कर सकता है। इस व्रत के पालन से दिनचर्या को अधिक विशुद्धि के पथ पर लाया जा सकता है। जीवन के कण-कण को सफल बनाने के लिए यह अमोघ मन्त्र है। इसका महत्त्व एवं उपयोगिता पूर्ववर्ती व्रतों की महिमा से तुली हुई है। इसका सम्बन्ध केवल छोटे सातवें व्रत तक ही सीमित नहीं है, पांच अणुव्रत एवं अनर्थदण्ड विरमणव्रत में भी इसका संचार है। यह उन सबका पोषक बन कर स्वयं महान् उपयोगिता का केन्द्र एवं सफलता की आधारशिला बनता है।

तीसरा शिक्षाव्रत ग्यारहवां पौषधोपवास-व्रत

मूल पाठ

एकारसमं पोसहोववासव्वयं-असण-पाण-खाइम-साइम-
पच्चक्खाणं, अबंभपच्चक्खाणं, उम्मुक्कमणिसुवण्णाइ-पच्चक्खाणं
माला-वण्णग-विलेवणाइपच्चक्खाणं, सत्थ-मूसलाईसावज्जजोग-
पच्चक्खाणं, जाव अहोरत्तं पज्जुवासामि दुविहं तिविहेणं न करेमि न
कारवेमि मणसा वयसा कायसा। एअस्स एकारसमस्स पोसहोववासस्स
समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तंजहा-१
अप्पडिलेहिय दुप्पडिलेहिय सिज्जासंथारए २. अप्पमज्जिय दुप्पमज्जिय
सिज्जासंथारए ३ अप्पडिलेहिय दुप्पडिलेहिय उच्चारपासवणभूमी ४
अप्पमज्जिय दुप्पमज्जिय उच्चार-पासवणभूमी ५ पोसहोववासस्स सम्मं
अणणुपालया। जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

छाया

एकादशं पौषधोपवासव्रतं-अशन-पान-खादिम-स्वादिम-प्रत्याख्यानं अब्रह्म-
प्रत्याख्यानं उन्मुक्त-मणि-सुवर्णादि-प्रत्याख्यानं माला-वर्णक-विलेपनादि-
प्रत्याख्यानं शस्त्र-मुसलादि-सावद्य-योग-प्रत्याख्यानं यावत् अहोरात्रं पर्युपासे
द्विविधं त्रिविधेन न करोमि न कारयामि मनसा वचसा कायेन। एतस्य
एकादशस्य पौषधोपवासस्य श्रमणोपासकेन पञ्चातिचाराः ज्ञातव्याः, न
समाचरितव्याः, तद्यथा-१ अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित-शय्यासंस्तारकः २
अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित-शय्यासंस्तारकः ३ अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित-
उच्चार-प्रस्रवण-भूमिः ४ अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित-उच्चार-प्रस्रवण-भूमिः ५
पौषधोपवासस्य सम्यगऽननुपालनता। यो मयाः दैवसिकः अतिचारः कृतः तस्य
मिथ्या मे दुष्कृतम्।

शब्दार्थ

एकारसमं पोसहोववासव्वयं—ग्यारहवां पौषधोपवास व्रत

असण-पाण खाइम-साइम पच्चक्खाणं—अशन-पानी खादिम-स्वादिम
का प्रत्याख्यान

अबंभपच्चक्खाणं—मैथुन सेवन का प्रत्याख्यान

उम्मुककमणिसुवण्णाइपच्चक्खाणं—उन्मुक्त रत्न, सोना आदि का
प्रत्याख्यान

माला-वण्णगविलेवणाइपच्चक्खाणं—माला, रंग, विलेपन आदि का
प्रत्याख्यान

सत्थ-मूसलाई-सावज्ज-जोग पच्चक्खाणं—शस्त्र-मूसल आदि सावद्य
व्यापार का प्रत्याख्यान

जाव अहोरेत्तं पज्जुवासामि—यावत् दिन रात पौषधव्रत का सेवन करता
हूँ

दुविहं तिविहेणं—दो करण तीन योग से (सावद्य योग का आचरण)

न करेमि न कारवेमि—नहीं करूँ नहीं कराऊँ

मणसा वयसा कायसा—मन से वचन से शरीर से।

एअस्स एकारसमस्स—इस ग्यारहवें

पोसहोववासस्स—पौषधोपवास व्रत के

समणोवासएणं—श्रावक को

पंच अइयारा जाणियव्वा—पांच अतिचार ज्ञातव्य हैं

न समायरियव्वा—आचरणीय नहीं हैं।

तंजहा—वे इस प्रकार हैं—

अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहिय सिज्जा-संधारए—निरीक्षण न करना या
असावधानी से निरीक्षण करना शय्या-संस्तारक का

अप्पमज्जिय-दुप्पमज्जिय सिज्जासंधारए—न पूजना या असावधानी से
पूजना शय्या-संस्तारक को

अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहिय उच्चारपासवणभूमी—निरीक्षण न करना या
असावधानी से निरीक्षण करना उत्सर्ग भूमि का

अप्पमज्जिय-दुप्पमज्जिय उच्चार-पासवणभूमी—न पूंजना या
 असावधानी से पूंजना उत्सर्ग भूमि को
 पोसहोववासस्स सम्मं अणणुपालया—पौषधोपवास व्रत का विधिवत्
 अनुपालन न करना
 जो मे देवसिओ—जो मैंने दिन सम्बन्धी
 अइयारो कओ— अतिचार किया हो तो
 तस्स मिच्छामि दुक्कडं—उसका निष्फल हो पाप ।

विवेचन

व्रत-स्वरूप

धर्म को पुष्ट करने वाले नियम विशेष का नाम पौषध है। एक दिन रात तक अशन (भोजन) पान (पानी) खादिम (फल, मेवा आदि) स्वादिम (मुंह की सफाई के लिये मुंह में रखे जाने वाले पदार्थ, जैसे—पान, सुपारी, लवंग आदि) का त्याग करना अथवा पानी के सिवाय तीन आहार का त्याग करना उपवास है। चतुर्विधाहार त्याग सहित उपवास करके उस नियम का पालन करना पौषधोपवास-व्रत है।

व्रत-ग्रहण विधि

गुरुदेव! मैं एक दिन रात के लिए पौषधोपवास व्रत में अशन आदि चार प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ। अब्रह्मचर्य सेवन का त्याग करता हूँ। उन्मुक्त अर्थात् शरीर पर पहने हुए आभूषणों के सिवाय मणि-सुवर्ण आदि का त्याग करता हूँ। फूलों की माला पहिने का, रंग लगाने का, चंदन आदि का लेप करने का त्याग करता हूँ तथा शस्त्र-मूसल आदि सावद्य प्रवृत्तियों अथवा पापकारी कार्यों को त्यागता हूँ। जब तक, एक अहोरात्र तक मैं इस व्रत का पालन करता रहूंगा तब तक मन, वाणी एवं शरीर से सावद्य प्रवृत्ति स्वयं नहीं करूंगा और दूसरों से नहीं कराऊंगा।

अतिचार

इस व्रत के पांच अतिचार श्रावक को जानने चाहिए।

१. अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित-शय्या-संस्तारक-शय्या-संधारे को— सोने-बैठने की जगह, ओढ़ने-पहनने के कपड़ों एवं बिछौने को बिना देखे या असावधानी से देख कर काम में लेना।

२. अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित-शय्या-संस्तारक-शय्या-संधारे को रात के समय बिना पूंजे या असावधानी से पूंज कर काम में लाना तथा बिना पूंजे हाथ-पग पसारना, पार्श्व बदलना (करवट बदलना) अन्य स्थान को प्रमार्जित कर अन्य स्थान में हाथ पैर आदि रखना इत्यादि।

३. अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित-उच्चारप्रस्रवणभूमि-मल-मूत्र विसर्जन के योग्य भूमि को दिन में न देखकर या असावधानी से देखकर काम में लाना।

४. अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित-उच्चारप्रस्रवणभूमि-मल-मूत्र विसर्जन के योग्य भूमि पर रात में बिना प्रमार्जन किये मल-मूत्र का विसर्जन करना तथा रात के समय खुली भूमि में शारीरिक-शंका निवृत्ति के लिए जाना पड़े तब भी सिर को ढके बिना जाना।

५. पौषधोपवास का सम्यक् अपालन-पौषधोपवासव्रत का विधिपूर्वक स्थिर चित्त होकर पालन न करना, आहार, अब्रह्मचर्य, सावद्य व्यापार आदि की अभिलाषा करना।

आलोचना-इनके सम्बन्ध से कोई दोष लगा हो तो वह मेरे लिए निष्फल हो।

पहले चार अतिचार असावधानी की अपेक्षा से हैं और भावना से विरति का बाधक होने के कारण पांचवां अतिचार है।

ज्ञातव्य

चतुर्विध आहार के त्याग वाले उपवास में उक्त नियम का पालन करना पौषधोपवास व्रत है। उपवास में पानी पी कर किया जाने वाला पौषध देशावकाशिक व्रत की परिधि में चला जाता है। पौषध नौवें व्रत का एक विशाल रूप है। नौवें व्रत का कालमान एक मुहूर्त्त का है और इसका कालमान एक दिन रात का है। प्रत्याख्यान दोनों के एक-से हैं।

व्रत विधान

यह प्रश्न सहज ही हो सकता है कि नौवें एवं ग्यारहवें व्रत को दशवें से पृथक् करने की क्या आवश्यकता है? क्योंकि नियमित समय के लिए होने वाले सब त्याग इसके अन्तर्गत हो सकते हैं।

यह सच है, इसका समावेश दशवें में हो सकता था तथापि इन दोनों का

पृथक् निर्वाचन करने का लक्ष्य विशेष विशुद्धि है। विशेष विशुद्धि की हेतुभूत नियमानुवर्तिता के कारण ही ये दोनों उससे (देशावकाशिक-व्रत से) भिन्न हैं।

देशावकाशिक-व्रत में नियम करने का कालमान निर्धारित नहीं है। वह (दशवां व्रत) दस मिनट के लिए एवं दो मिनट के लिए भी हिंसा आदि का पांचों का या पांचों में से किसी एक का त्याग करके इच्छानुकूल स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु सामायिक व्रत एवं पौषधोपवास व्रत का पालन इच्छानुकूल नहीं, वह तो विधि पूर्वक ही किया जा सकता है। सामायिक में एक मुहूर्त्त तक एवं पौषध में एक दिन रात तक हिंसा आदि पांचों आश्रव सेवन का अनिवार्यतया त्याग करना पड़ता है। यही इन दोनों का देशावकाशिक से अन्तर या विशेषत्व है। पौषध श्रावक का एक उत्कृष्ट नियम है।

चतुर्थ शिक्षाव्रत

बारहवां अतिथिसंविभाग-व्रत

मूल पाठ

बारसमं अहासंविभागव्वयं समणे-निगंथे फासुएणं एसणिज्जेणं
असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थपडिग्गहकंबलपायपुंछणेणं पाडिहारिणं
पीढफलगसिज्जासंथारणं ओसह-भेसज्जेण य पडिलाभेमाणे विहरामि ।
एअस्स बारसमस्स अहासंविभागव्वयस्स समणोवासणं पंच अइयारा
जाणियव्वा न समायरियव्वा, तंजहा-१ सचित्तनिक्खेवणया २
सचित्तपिहणया ३ कालाइक्कमे ४ परववदेसे ५ मच्छरिया । जो मे
देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

छाया

द्वादशं यथासंविभागव्रतं श्रमणान् निर्ग्रन्थान् प्रासुकेन एषणीयेन अशन-
पान-खादिम-स्वादिमेन वस्त्र-प्रतिग्रह-कम्बल-पाद-प्रोज्जनेन प्रातिहारिकेण
पीढफलकशय्यासंस्तारकेण औषध-भैषज्येन प्रतिलाभयमानः विहरामि । एतस्य
द्वादशस्य यथा-संविभाग-व्रतस्य श्रमणोपासकेन पञ्च अतिचाराः ज्ञातव्याः न
समाचरितव्याः, तद्यथा-१ सचित्तनिक्षेपणता २ सचित्तपिधानता ३
कालातिक्रमः ४ परव्यपदेशः ५ मत्सरिता । यो मया दैवसिकः अतिचारः कृतः
तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम् ।

भावार्थ

बारसमं अहा-संविभागव्वयं-बारहवां यथा-संविभाग-व्रत
समणे निगंथे-श्रमण निर्ग्रन्थ को
फासुएणं-अचित्त
एसणिज्जेणं-एषणीय
असणपाणखाइमसाइमेणं-अशन, पान, खादिम, स्वादिम

वत्थपडिग्गह—वस्त्र-प्रतिग्रह
 कंबलपायुपुंछणेणं—कम्बल, पाद-प्रोज्जन
 पाडिहारिणं—प्रातिहारिक (जो पदार्थ गृहस्थ को वापिस दिए जा सकते हैं)
 पीढ फलगसिज्जा संथारण—पीठ, फलक, शय्या, संथारा
 ओसह-भेसज्जेण य—औषधि भेषज
 पडिलाभेमाणे—प्रतिलाभता हुआ (देता हुआ)
 विहरामि—रहूँ।
 एअस्स बारसमस्स—इस बारहवें
 अहा-संविभागव्वयस्स—यथा-संविभाग-व्रत के
 समणोवासणं—श्रावक को
 पंच अइयारा जाणियव्वा—पांच अतिचार जानने चाहिये
 न समायरियव्वा—आचरण नहीं करना चाहिए
 तंजहा—वे इस प्रकार हैं—
 सचित्तनिक्खेवणया—एषणीय वस्तु को सचित्त वस्तु के ऊपर रखना
 सचित्तपिहणया—सचित्त से ढकना
 कालाइक्कमे—काल का अतिक्रमण करना
 परववदेसे—अपनी वस्तु को पर की बतलाना
 मच्छरिया—मत्सर भाव से
 जो मे देवसिओ—जो मैंने दिन सम्बन्धी
 अइयारो कओ—अतिचार किया हो तो
 तस्स मिच्छामि दुक्कडं—उसका निष्फल हो पाप।

विवेचन

व्रत-स्वरूप

पांच महाव्रत को पालने वाले तथा ४२ दोष-वर्जित भिक्षा लेने वाले साधुओं को अपने घर के निमित्त बने हुए भोजन आदि चौदह प्रकार की वस्तुओं का आत्म-कल्याण की बुद्धि से यथाशक्ति विभाग देना, यथा-संविभाग-व्रत है। इस व्रत का दूसरा नाम अतिथिसंविभाग-व्रत है। इसका अर्थ है अतिथि को अपने भोजन आदि का विभाग देना। जिनका भिक्षा के लिए आना किसी तिथि

या पर्व से सम्बन्धित नहीं, अमुक दिन या अमुक पर्व में ही भिक्षा लेने के लिए आये, ऐसा कोई निश्चय नहीं, वे अतिथि हैं। प्रस्तुत प्रकरण में अतिथि शब्द शास्त्र-सम्मत साधुओं का बोधक है; अभ्यागत एवं साधारण भिक्षुओं का नहीं।

चौदह प्रकार का दान

१. अशन—मुख्य रूप से भूख मिटाने के लिए खाये जाने वाले पदार्थ, जैसे—रोटी।

२. पान—पीये जाने वाले पदार्थ, जैसे—पानी। दूध आदि भी पेय हैं, पर बुभुक्षा शांति के हेतु होने से उनका समावेश अशन में हो जाता है।

३. स्वादिम—जीभ के स्वाद के निमित्त खाये जाने वाले पदार्थ, जैसे—फल, मेवा आदि।

४. स्वादिम—मुंह की सफाई के लिए मुंह में रखे जाने वाले पदार्थ, जैसे—लौंग, सुपारी आदि।

खादिम एवं स्वादिम का उपर्युक्त अर्थ लोक-व्यवहार की अपेक्षा से है। इनका वास्तविक अर्थ तो खाने के उद्देश्य पर निर्भर है।

५. वस्त्र

६. पात्र—काष्ठ या मिट्टी के बने हुए खाने, पीने के भाजन ।

७. कम्बल

८. पादप्रोज्छन—यत्ना के निमित्त पूंजने के काम में आने वाला रजोहरण ।

९. पीढ़—छोटे पाट ।

१०. फलक—बड़े पाट ।

११. शय्या—ठहरने के लिए मकान आदि ।

१२. संस्तारक—बिछौने के लिए घास आदि ।

१३. औषध—एक चीज से बनी हुई दवा ।

१४. भेषज—अनेक चीजों के मिलाने से बनी हुई दवा ।

इनमें पहले आठ प्रकार के पदार्थ अप्रातिहारिक हैं अर्थात् साधु उन्हें लेने के बाद दाता को लौटा नहीं सकते और शेष छह द्रव्य प्रातिहारिक हैं अर्थात् साधु उन्हें काम में लेकर दाता को लौटा सकते हैं ।

व्रत ग्रहण विधि

गुरुदेव! मैं शुद्ध साधुओं को संयमी जीवन-निर्वाह के उपयुक्त १४ प्रकार का दान देने के लिए यथासंविभाग-व्रत को ग्रहण करता हूँ। मैं आत्म-कल्याण की भावना से वैसे साधुओं को मन, वचन एवं काया की शुद्धि से प्रासुक वस्तुओं का दान देता रहूंगा।

अतिचार

इस व्रत के पांच अतिचार श्रावक को जानने चाहिए।

१. सचित्तनिक्षेप—साधु को नहीं देने की बुद्धि से छलपूर्वक अचित्त अन्न आदि को सचित्त पदार्थ पर रख देना।

२. सचित्तपिधान—साधु को नहीं देने की बुद्धि से कपटपूर्वक अचित्त पदार्थ को सचित्त फल आदि से ढक देना।

३. कालातिक्रम—भिक्षा के उचित काल का अतिक्रमण कर भावना भाना, मानो साधु कुछ लेंगे भी नहीं और मुझे जानेंगे कि अमुक श्रावक दातार है।

४. परव्यपदेश—आहार आदि अपना होने पर भी न देने की बुद्धि से दूसरे का बता देना।

५. मत्सरिता—दूसरे की देखा-देखी से, ईर्ष्याभाव से दान देना।

आलोचना—इनके योग से कोई दोष लगा हो तो वह मेरे लिए निष्फल हो।

व्रत विधान

अहिंसक मुनि जीवन-निर्वाह के आवश्यक साधन—भोजन और पानी के लिए भी हिंसा नहीं कर सकते। उनका जीवन-निर्वाह एकमात्र विशुद्ध भिक्षाचर्या पर आधारित रहता है। उनके लिए कुछ बना कर भी नहीं दिया जा सकता। वे उन्हीं वस्तुओं को लेते हैं जिनको गृहस्थ अपने लिये बनाता है। अतएव इस व्रत में दुगुना लाभ है। एक लाभ तो यह है कि साधु को दान देने वाला श्रावक अहिंसक शरीर के निर्वाह का आलम्बन बनता है। दूसरा लाभ यह है कि वह दान देकर अपनी खान-पान सम्बन्धी इच्छाओं का संकोच करता है, नया आरम्भ नहीं करता।

संयमी-दान श्रावक के पवित्र धार्मिक कार्यों में एक महान् पवित्र कार्य है। लोक भाषा में संयमी-दान के स्थान पर सुपात्र-दान का प्रयोग किया जाता है। सुपात्र-दान के महत्त्व का गान जैन एवं जैनेतर धार्मिक ग्रन्थों में प्रायः एक स्वर से गाया गया है।



संलेहणाइयारे

संलेखना अतिचार

मूल पाठ

अपच्छिममारणांतिय संलेहणा-झूसणाराहणाय समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा १ इहलोगासंसप्यओगे २ परलोगासंसप्यओगे ३ जीवियासंसप्यओगे ४ कामभोगासंसप्यओगे ५ मरणासंसप्यओगे, तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

छाया

अपश्चिममारणान्तिकसंलेखना-जोषणाऽऽराधनायाः श्रमणोपासकेन पंच अतिचाराः ज्ञातव्याः न समाचरितव्याः, तद्यथा-१ इहलोकाऽऽशंसाप्रयोगः २ परलोकाऽऽशंसाप्रयोगः ३ जीविताऽऽशंसा प्रयोगः ४ कामभोगाऽऽशंसाप्रयोगः ५ मरणाऽऽशंसाप्रयोगः, तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम् ।

शब्दार्थ

अपच्छिममारणांतिय-अपश्चिम मारणान्तिक
संलेहणा-झूसणाराहणाय-संलेखना-जोषणा आराधना के
समणोवासएणं-श्रावक को
पंच अइयारा जाणियव्वा-पांच अतिचार ज्ञातव्य हैं
न समायरियव्वा-आचरणीय नहीं हैं ।
तं जहा-वे इस प्रकार हैं-
इहलोगासंसप्यओगे-इस लोक के सुखों की वांछा
परलोगासंसप्यओगे-परलोक के सुखों की वांछा
जीवियासंसप्यओगे-असंयम जीवितव्य की वांछा
कामभोगासंसप्यओगे-काम भोग की वांछा

मरणासंसप्यओगे—बाल मरण की वांछा
तस्स मिच्छामि दुक्कडं—उस सम्बन्धी निष्फल हों पाप ।

भावार्थ

संलेखना अतिचार

श्रावक अन्तिम समय में मृत्यु को पार्श्ववर्ती जानकर अथवा राग-द्वेष रहित भावना से सचमुच जीवन से विरक्त हो जाने पर (कर्मक्षय करने के लिए तपस्या की भावना प्रबल हो उठने पर) अपने शरीर एवं कषाय को दुर्बल करने के लिए जो अनशनादि तप विशेष करता है, उसका नाम संलेखना है। यह संलेखना व्रत वर्तमान शरीर का अन्त हो, तब-तक लिया जाता है। अतः इसको मारणान्तिक संलेखना कहते हैं।

संलेखना आत्महत्या नहीं

संलेखना न तो आत्महत्या है और न हिंसा। राग-द्वेष, प्रमाद आदि भावनाओं से चाहे अपने प्राणों का अन्त किया जाए, चाहे दूसरे का, वह हिंसा है। अपने प्राणों का वियोग करना आत्म-हत्या एवं अन्य प्राणी के प्राणों का वियोग करना हिंसा कहलाती है। संलेखना में प्राण-नाश अवश्य है पर वह हिंसा नहीं। यथार्थ हिंसा का स्वरूप रागादि की वृत्ति से बनता है। संलेखना व्रत एक मात्र कर्मक्षय के लिए आत्मा को तपस्या द्वारा उज्ज्वल करने के लिये ग्रहण किया जाता है। अतः वह राग-द्वेष एवं मोह रहित होने के कारण हिंसा की कोटि में नहीं आता। प्रत्युत निर्मोही साधना की भावना से उत्पन्न होने के कारण यह शुभ ध्यान की कोटि में है। इसको ग्रहण करने का लक्ष्य कोई भौतिक आशा एवं भौतिक प्रलोभन नहीं—केवल आत्म-शोधन है। अतएव संलेखना न तो आत्महत्या है और न हिंसा ही।

अतिचार

संलेखना के पांच अतिचार श्रावक को जानने चाहिये।

१. इहलोकाशंसा-प्रयोग—इस लोक अर्थात् मनुष्यलोक सम्बन्धी सुखों की इच्छा करना। जैसे—जन्मान्तर में मैं चक्रवर्ती होऊं, सम्राट्, राजा या राजमन्त्री होऊं इत्यादि।

२. परलोकाशंसा-प्रयोग—परलोक अर्थात् देवलोक सम्बन्धी सुखों की अभिलाषा करना। जैसे—जन्मान्तर में मैं इन्द्र या देव होऊं इत्यादि।

३. जीविताशंसा-प्रयोग—असंयम अर्थात् त्याग-विरति रहित जीवन की अभिलाषा करना।

४. कामभोगाशंसा-प्रयोग—सांसारिक वासनाओं में विलासिता आदि प्रवृत्तियों की इच्छा करना।

५. मरणाशंसा-प्रयोग—बाल मृत्यु अर्थात् अज्ञानी की तरह मृत्यु की चाह करना।

आलोचना—इनके योग से कोई दोष लगा हो तो वह मेरे लिए निष्फल हो।

परिशिष्ट

संलेखना के अतिचारों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि पौद्गलिक सुखों की अभिलाषा रखना एवं उनके लिए धर्म करना असली लक्ष्य से दूर है। धर्म करने का एक मात्र उद्देश्य आत्मशोधन एवं आत्म-विकास है और यही होना चाहिए। भौतिक सुखों का न तो लक्ष्य हो और न होना ही चाहिये। भौतिक सुखों की चाह करने की कोई जरूरत नहीं, वे तो धर्म के अनुगामी हैं, धर्म के गौण फल के रूप में अपने आप प्राप्त होने वाले हैं। यही निर्लेप भावना का बीजमंत्र है। इसकी भूमिका अनासक्ति से ऊंची है। अनासक्ति का व्यवहार तो धर्म से पूर्व की भूमिका अर्थात् कृषि, वाणिज्य, पशु-पालन, गृहकार्य आदि नैतिक कार्यावली में भी करना चाहिये, जिससे न तो अन्याय एवं निरीह शोषण की मात्रा बढ़े और न निकाचित कर्म यानी गाढ़तम कर्म भी बंधें। जो पुरुष पौद्गलिक सुखों की लालसा को त्याग देता है, वह न तो जीवन से खुश होता है और न मृत्यु से डरता है। उसकी दृष्टि में जीवन और मरण, वेश परिवर्तन या गृह परिवर्तन सरीखा है। धर्म की असलियत को पहचानने का यही सार है।

तस्स धम्मस्स

मूल पाठ

तस्स धम्मस्स केवलीपन्नत्तस्स अब्भुट्ठिओमि आराहणाए विरओमि
विराहणाए सव्वं तिविहेणं पडिक्कंतो वंदामि जिण चउव्वीसं ।

छाया

तस्य धर्मस्य केवलिपन्नत्तस्य अभ्युत्थितोस्मि आराधनायां विरतोस्मि
विराधनायां सर्वं त्रिविधेन प्रतिक्रान्तो वन्दे जिन-चतुर्विंशतिम् ।

शब्दार्थ

तस्स धम्मस्स—उस धर्म की
केवली पन्नत्तस्स—केवली भाषित
अब्भुट्ठिओमि—उपस्थित होता हूं
आराहणाय—आराधना करने के लिए
विरओमि विराहणाए—विरक्त होता हूं विराधना से
सव्वं—सब प्रकार से
तिविहेणं—मन, वचन और शरीर से
पडिक्कंतो—निवृत्त होता हुआ
वंदामि—वन्दन करता हूं।
जिणचउव्वीसं—चौबीस तीर्थकरों को ।

भावार्थ

मैं केवली भगवान् कथित धर्म की आराधना करने के लिए उपस्थित होता हूं। उसकी विराधना की हो तो सब प्रकार से मन, वचन और काया से निवृत्त होता हुआ, उससे विरत होता हूं और भगवान् आदिनाथ से भगवान् महावीर तक जो चौबीस तीर्थकर हुए हैं, उनको नमस्कार करता हूं।

धर्म की आराधना करने को उद्यत होना, उसकी विराधना से दूर रहना परम हित का उपाय है। धर्म की विराधना से पृथक् रहने का उपाय मन, वचन और शरीर सम्बन्धी चेष्टाओं की निवृत्ति है। अतः इनसे निवृत्त होकर ही धर्म-आराधना करने का उपदेश दिया है। इस अवसरिणी काल में चौबीस तीर्थकरों ने प्राणीमात्र के हितार्थ त्याग-तपस्या रूप धर्म का मार्ग दिखलाया था। अतएव उन परम आत्माओं को नमस्कार करता हूँ।

खामणा

मूल पाठ

खामेमि सव्वजीवे, सव्वेजीवा खमंतु मे।
मिन्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ न केणइ॥

छाया

क्षाम्यामि सर्वजीवान्, सर्वे जीवाः क्षमन्तां माम्।
मैत्री मम सर्वभूतेषु, वैरं मम न केनचित्॥

शब्दार्थ

खामेमि—क्षमा करता हूँ
सव्वजीवे—सब जीवों को
सव्वेजीवा—सब जीव
खमंतु मे—मुझे क्षमा करें
मिन्ती मे—मित्रता है मेरी
सव्वभूएसु से—सब प्राणियों—प्राणी मात्र के साथ
वेरं मज्झ न—मेरा वैर—शत्रुता नहीं है
केणइ—किसी के साथ।

भावार्थ

‘मैं सब जीवों को क्षमाता हूँ—सब जीव मुझे क्षमा करें, प्राणीमात्र के साथ मेरी मित्रता है—किसी के भी साथ मेरी शत्रुता नहीं है।’

अहा! कितना सुन्दर उपदेश!! क्या इससे भी बढ़ कर कोई विश्व-शांति का साधन है? जगन्मैत्री की सद्भावना के बिना विश्व-शान्ति का अंकुर पल्लवित नहीं हो सकता, चाहे कितना ही अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण क्यों न किया जाए, क्यों न कितना ही शान्ति-परिषदों का आयोजन किया जाए। शान्ति हृदय को सरल एवं स्वच्छ किये बिना नहीं हो सकती। हृदय-मालिन्य शांति-पथ में

बाधक है। हृदय-मालिन्य के हेतु क्रोध, ईर्ष्या, अहंकार, स्वार्थ आदि अवगुण हैं। इनसे मनोवृत्ति कुटिल हो जाती है, विचारधारा का प्रवाह मैत्री की ओर अग्रसर नहीं हो सकता। विचारों में मैत्री-भावना का संचार हुए बिना विश्व-शांति का स्वप्न भी असंभव है।

वस्तुतः यदि हम विश्व-शांति के इच्छुक हैं तो हमें इस सुधाभिषिक्त सदुपदेश को हृदय से पालना चाहिए। इसमें कितनी सद्भावना, कितनी सचाई और कितना आर्जव है—‘मैं प्राणी मात्र से अपने अपराधों की क्षमा मांगता हूँ और प्राणी मात्र को उनके अपराधों के लिए क्षमा करता हूँ।’ इस प्रकार के क्षांत-आचरण से ही भावना मैत्री से आप्लावित हो उठती है। सबसे क्षमा मांगना और सबको क्षमा करना मैत्री का बीज है।

८४ लाख जीव-योनि

सात लाख पृथ्वीकाय, सात लाख अप्काय, सात लाख तेजस्काय, सात लाख वायुकाय, दश लाख प्रत्येक वनस्पतिकाय, चौदह लाख साधारण वनस्पतिकाय, दो लाख द्वीन्द्रिय, दो लाख त्रीन्द्रिय, दो लाख चतुरिन्द्रिय, चार लाख नारकी, चार लाख देवता, चार लाख तिर्यच पंचेन्द्रिय, चौदह लाख मनुष्य की जाति—चार गति चौरासी लाख जीव-योनि पर राग-द्वेष आया हो तो मिच्छामि दुक्कडं।

सामायिक-पारण-विधि

नवमें सामायिक व्रत में जो कोई अतिचार-दोष लगा हो तो उसकी मैं आलोचना करता हूँ—१. मन योग की सावद्य प्रवृत्ति की हो, २. वचन योग की सावद्य प्रवृत्ति का हो, ३. काय-योग की सावद्य प्रवृत्ति की हो, ४. सामायिक की सार-संभाल न की हो, ५. काल-मान पूरा होने से पहले ही सामायिक संपन्न की हो। सामायिक में स्त्री-कथा, भक्त-कथा, देश-कथा, राज-कथा की हो, तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

सामायिक-व्रत श्रावक के आदरणीय बारह व्रतों में नवमां व्रत है। सामायिक का काल-मान एक मुहूर्त का है। इस अवधि के बीच में—सामायिक-व्रत पालने के समय प्रमादवश, भूल से या जानबूझ कर जो कोई मामूली स्खलना हो जाती है उसका सामायिक पारण-विधि प्रायश्चित्त है। सामायिक की पूर्ति इससे करना आवश्यक है अथवा सामायिक का कालमान पूरा हो जाने के पश्चात् सामायिक पारण-विधि का ध्यानपूर्वक उच्चारण करना अत्यावश्यक है। इसके उपरान्त यदि सामायिक में अधिक दोष लगा हो तो उसके लिए गुरु के समक्ष प्रायश्चित्त कर लेना चाहिए।

देवसिय-पायच्छित्त

दैवसिक-प्रायश्चित्त

मूल पाठ

देवसिय-पायच्छित्त-विसोहणट्टं करेमि काउरसगं ।

छाया

दैवसिक-प्रायश्चित्तविशोधनार्थं करोमि कायोत्सर्गम् ।

शब्दार्थ

देवसिय—दिवस-सम्बन्धी
पायच्छित्त—प्रायश्चित्त की
विसोहणट्टं—विशुद्धि के लिए
करेमि—करता हूँ
काउरसगं—कायोत्सर्ग ।

भावार्थ

गुरुदेव ! दिन में मन, वचन और शरीर से प्रायश्चित्त योग्य कोई अतिचार सेवन किया हो तो उसकी शुद्धि के लिए कायोत्सर्ग करता हूँ ।

प्रायश्चित्त—पाप की शुद्धि के लिए की जानेवाली क्रिया—अनुष्ठान को प्रायश्चित्त कहते हैं ।

दैवसिक प्रतिक्रमण में ४, पाक्षिक प्रतिक्रमण में १२, चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में २०, सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में ४० लोगस्स का ध्यान करना चाहिये ।

परिशिष्ट

परिशिष्ट-१ पंचपद वन्दना

पहले^१ पदे श्री सीमंधर स्वामी आदि जघन्य बीस तीर्थकर देवाधिदेव उत्कृष्ट एक सौ साठ तीर्थकर देवाधिदेव पंच महाविदेह क्षेत्र में विचरते हैं—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र, अनन्त बल, अशोक वृक्ष, पुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनि, देवदुन्दुभि, स्फटिक सिंहासन, भामण्डल, छत्र, चामर—इन द्वादश गुणों के धारक, एक हजार आठ शुभ लक्षण युक्त शरीर, चौसठ इन्द्रों के पूजनीय, चौतीस अतिशय, पैंतीस वचनातिशय से सुशोभित—इस प्रकार के श्री अर्हत् देवों के प्रति हाथ जोड़, मान मोड़ 'तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि वंदामि नमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि मत्थएण वंदामि।'

१. जघन्य—कम-से-कम बीस तीर्थकर—इस समय महाविदेह नामक क्षेत्र में विद्यमान हैं। अर्हत्तों के बारह गुण बतलाए हैं, उनमें पहले चार उनके आत्म-गुण हैं और शेष ८ उनके अतिशय यानी विशेषताएं हैं। ये योगजन्य विभूतियां योगशक्ति के द्वारा योगियों को प्राप्त हुआ करती हैं। तीर्थकर परम योगिराज हैं। उनको ये विभूतियां मिलें, इसमें कोई आश्चर्य नहीं। जैनाचार्यों ने योगशक्ति का बड़ा भारी महत्त्व बतलाया है। महर्षि पतञ्जलि का योग विभूतिपाद भी इस विषय पर काफी अच्छा प्रकाश डालता है। तीर्थकर के आठ अतिशय ये हैं—
 १. तीर्थकर जहां होते हैं, वहां उनके शरीर से ऊंचे एक अशोक वृक्ष बन जाता है। वह वृक्ष केवल पुद्गलों का बना हुआ होता है।
 २. देवता कृत्रिम फूल बरसाते हैं।
 ३. दिव्य ध्वनि होती है।
 ४. देवता दुन्दुभि बजाते हैं।
 ५. स्फटिक का सिंहासन बन जाता है।
 ६. सिर के पीछे प्रभा का मण्डल होता है।
 ७. स्वाभाविक तीन छत्र होते हैं।
 ८. स्वाभाविक चामर डुलते हैं।

दूसरे^१ पदे अनन्त सिद्ध, पन्द्रह प्रकार से अनन्त चौबीसी, अष्ट कर्मों को क्षय कर मोक्ष पहुंचे—केवलज्ञान, केवलदर्शन, आत्मिक सुख, क्षायिक सम्यक्त्व, अटल अवगाहन, अमूर्तित्व, अगुरुलघुत्व, अन्तराय रहित—ये अष्ट गुण संयुक्त, जन्म-मरण-जरा रोग-शोक-दुःख-दारिद्र्य रहित, सर्वदा शाश्वत सुखपूर्वक विराजमान हैं—ऐसे श्री सिद्ध भगवान् के प्रति हाथ जोड़, मान मोड़ 'तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि वंदामि नमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि मत्थएण वंदामि।'

तीसरे^२ पदे मेरे धर्माचार्य गुरु पूज्य महाराजाधिराज श्री १००८ श्री तुलसीरामजी स्वामी (वर्तमान आचार्य) आदि—वे आचार्य भगवान् कैसे हैं—पञ्च

१. इस अनादि काल प्रवाह में अनन्त जीव सिद्ध हो चुके हैं। उनमें आठ गुण होते हैं। वे गुण आठ कर्मों को क्षीण करने से प्रकट होते हैं।

१. ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय हो जाने से केवलज्ञान—अनन्त ज्ञान।

२. दर्शनावरणीय कर्म का क्षय हो जाने से केवलज्ञान—अनन्त दर्शन।

३. वेदनीय कर्म का क्षय हो जाने से आत्मिक सुख।

४. मोहनीय कर्म का क्षय हो जाने से क्षायिक सम्यक्त्व।

५. आयुष्य कर्म का क्षय हो जाने से अटल अवगाहन—न जन्मना और न मरना अथवा अपरावर्तन।

६. नाम कर्म का क्षय हो जाने से अमूर्तिकपन—अशरीरीपन।

७. गोत्र कर्म का क्षय हो जाने से अगुरुलघुपन—न छोटापन और न बड़ापन।

८. अंतराय कर्म का क्षय हो जाने से अप्रतिहत शक्ति।

२. पांच महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह।

चार कषाय—क्रोध, मान, माया, लोष।

पांच आचार—ज्ञान-आचार, दर्शन-आचार, चरित्र-आचार, तप-आचार, वीर्य आचार।

पांच समिति—ईर्या—देखकर चलना, भाषा—पापरहित बोलना, एषणा—दोषरहित आहार-पानी आदि ग्रहण करना, आदान-निक्षेप—अपने वस्त्र-पात्रों को सावधानी से लेना-रखना, उत्सर्ग—निर्जीव भूमि में मल-मूत्र का उत्सर्ग करना।

तीन गुप्ति—मन का निग्रह करना, वचन का निग्रह करना, शरीर का निग्रह करना।

पांच इन्द्रिय—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र।

नवबाड़—१. स्त्री, पशु तथा नपुंसक रहित स्थान में रहना। २. शृङ्गार

रसोत्पादक कथा न करना। ३. स्त्रियों के साथ एक आसन पर न बैठना।

४. स्त्रियों के अंगोपांगों का अवलोकन न करना। ५. स्त्रियों के काम

क्रीड़ा के शब्द न सुनना। ६. गृहस्थपन में भोगे हुए भोगों का स्मरण न

करना। ७. विषयोत्पादक स्निग्ध एवं सचिक्कण आहार न करना। ८. मर्यादा से

अधिक भोजन न करना। ९. शरीर की विभूषा न करना।

महाव्रत के पालने वाले, चार कषाय के टालने वाले, पंचाचार के पालने वाले, पञ्च समिति और तीन गुप्ति से युक्त, पांच इन्द्रियों को जीतने वाले, नवबाड़ सहित ब्रह्मचर्य व्रत को पालने वाले—इन छत्तीस गुणों के धारक, शासनशृंगार, गच्छाधार, धर्मधुरन्धर, सयल शुभङ्कर, भुवन-भासक, मिथ्यात्वनाशक, तीर्थकर देववत् धर्मोद्योतकारी—ऐसे महापुरुष आचार्यश्री के प्रति हाथ जोड़, मान मोड़, 'तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि वंदामि नमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मङ्गलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि मत्थएण वंदामि ।'

चौथे^१ पदे उपाध्यायजी महाराज ! वे कैसे हैं—ग्यारह अंग और बारह उपांगों का स्वयं अध्ययन करते हैं और दूसरों को अध्ययन करवाते हैं—ऐसे पच्चीस गुणों

१. ११ अंग—१. आचारांग, २. सूत्रकृतांग, ३. स्थानांग, ४. समवायांग, ५. भगवती, ६. ज्ञात-धर्मकथा, ७. उपासकदशा, ८. अन्तकृतदशा, ९. अनुत्तरोपपातिकदशा, १०. प्रश्नव्याकरण, ११. विपाक ।

१२ उपांग—१. औपपातिक २. राजप्रश्नीय ३. जीवाभिगम, ४. प्रज्ञापना, ५. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ६. चन्द्रप्रज्ञप्ति, ७. सूर्यप्रज्ञप्ति, ८. निरयावलिका, ९. कल्पवतंसिका, १०. पुष्पिका, ११. पुष्पचूलिका, १२ वृष्णिदशा ।

उपाध्याय को इन ११ अंग और १२ उपांगों का अध्ययन रहता है अतः उनके ये २३ गुण माने गये हैं। २४-२५ वे इन २३ सूत्रों का स्वयं अध्ययन-मनन करते रहते हैं और दूसरों को करवाते रहते* हैं।

यहां एक प्रश्न होता है कि भगवान् महावीर के समय से लेकर जब तक १२ अंग उपलब्ध थे, तब उपाध्याय के गुणों की गणना कैसे की जाती थी ?

इसका समाधान करने के लिए हम कल्पना कर सकते हैं—बारहवें अंग—दृष्टिवाद की उपलब्धि तक की परम्परा में उपाध्याय के गुणों की संख्या क्या थी, इसकी आगम में कोई चर्चा उपलब्ध नहीं होती, अतः बलपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि उस समय भी उपाध्याय के गुण २५ ही संगृहीत थे। दूसरे—दृष्टिवाद को सम्मिलित कर लेने पर भी यदि अध्ययन एवं अध्यापन एक गुण माना जाता हो तो गुण-संख्या २५ हो सकती है, अथवा अध्ययन-अध्यापन यदि पृथक् पृथक् गुण माने जाते थे तो संभवतः दृष्टिवाद उपाध्याय के अधिकार में न रह कर आचार्य के अधिकार में ही रहता था, यद्यपि यह साधारणतया तो संभव नहीं। क्योंकि अध्यापन-कार्य प्रमुखरूपेण उपाध्याय के अधिकार में होता है। किन्तु दृष्टिवाद का क्वचित् अपवाद हो। खैर, जो कुछ हो आज आगम परम्परा से हम निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कह सकते। आगम की उत्तरवर्ती परम्परा में जो संग्रह हुआ है, उसमें उपाध्याय के गुणों की संख्या इसी प्रकार उपलब्ध होती है।

* एक अन्य परम्परा के अनुसार उपाध्याय के ११ अंग, १२ उपांग, चरणसत्तरी एवं करणसत्तरी ये २५ गुण माने जाते हैं।

के धारक श्री उपाध्यायजी महाराज के प्रति हाथ जोड़, मान मोड़, 'तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि वंदामि नमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मङ्गलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि मत्थएण वंदामि।'

पांचवें^१ पद जघन्य (कम से कम) दो हजार क्रोड़ से अधिक साधु-साध्वी उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) नव हजार क्रोड़ साधु-साध्वी अढ़ाई द्वीप पन्द्रह क्षेत्रों में विहार करते हैं, वे महामुनिराज कैसे हैं—पञ्च महाव्रत के पालनहार, पांच इन्द्रियों के जीतनहार, चार कषाय के टालनहार, भाव सत्य^२, करण सत्य^३, योग सत्य^४, क्षमावन्त, वैराग्यवन्त, मनसमाधारणता^५, वचन-समाधारणता^६, कायसमाधारणता^७, ज्ञान-सम्पन्न, दर्शन-सम्पन्न, चारित्र सम्पन्न, वेदना (कष्ट) आने से उसे समभावपूर्वक सहन करनेवाले, मृत्यु को समभावपूर्वक सहन करने वाले—इन सत्ताईस गुणों के धारक, बाईस परीषहों को जीतने वाले, बयांलीस दोष टाल कर आहार पानी लेने वाले, बावन अनाचारों को टालने वाले, निलोभी, निर्लालची, संसार से उदासीन, मोक्ष के अभिलाषी, संसार से विमुख,

१. आचार्य के ३६ गुण एवं साधु के २७ गुणों को गहराई से देखें तो इनमें कोई खास अन्तर नजर नहीं जाता। आचार्य पद की महत्ता के अनुसार उनकी विशेषताओं का दिग्दर्शन क्यों नहीं कराया गया? आचार्य के जितने गुण बतलाये गये हैं, वे तो प्रत्येक साधु में अवश्य उपलब्ध होते हैं। जिसमें इन आवश्यक गुणों की कमी हो, वह साधु भी नहीं हो सकता।

हां, यह सच है कि ये ३६ गुण प्रत्येक साधु में होते हैं परन्तु आचार्य की गुणावली में इनकी परिगणना एक तथ्य को लेकर हुई है। यों तो आचार्य अतिशय के अक्षयनिधि एवं अर्हत् के प्रतिनिधि होते हैं। तो भी उनकी खास विशेषता यह है कि वे स्वयं आचार-कुशल होते हैं और दूसरों को आचार-कुशल रहने की प्रेरणा करते रहते हैं। आचार्य की आचार-कुशलता प्रत्येक साधु के लिए आदर्श होती है। भगवान् महावीर ने उक्त ३६ गुणों की उज्ज्वलता में अनन्त गुण तरतम बतलाया है। उक्त गुण राका के चन्द्रमा के समान निर्मल होते हैं और प्रतिपदा के चांद के समान भी।

इस उपमा से पाठक समझ सकेंगे कि गुण-गणना के समान होने पर भी उज्ज्वलता में कितना अन्तर है? कहां वह प्रतिपदा की लम्बी सी लकीर और कहां वह पूर्ण ज्योत्स्ना का अधिनायक पूनम का चांद, राका शशि। आचार्य की गुणराशि अत्यधिक समुज्ज्वल एवं देदीप्यमान होती है अतः आचार्य की अन्य विशेषताएं न बतला कर उक्त मौलिक विशेषताएं बतलाना कोई असंगत बात नहीं, किन्तु आदर्शवाद है।

१. भावों को सरल रखना। २. क्रिया की विशुद्धि रखना। ३. योगविशुद्धि रखना। ४. मन की समाधि रखना। ५. वाणी की समाधि रखना। ६. शरीर की समाधि रखना।

मोक्ष के सन्मुख, सचित्त के त्यागी, अचित्त के भोगी, न्यौता देने से भोजन नहीं करने वाले, बुलाने से नहीं आने वाले, वायुवत् अप्रतिबन्ध-विहारी—इस प्रकार के महाउत्तम मुनिराज के प्रति हाथ जोड़, मान मोड़, 'तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि वंदामि नमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मङ्गलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि मत्थएण वंदामि।'

पंचपद वंदना (नवीन)

णमो अरहंताणं—परम अर्हता सम्पन्न, चार घनघाती कर्म का क्षय कर अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत चारित्र, अनंत शक्ति और आठ प्रातिहार्य—इन बारह गुणों से सुशोभित, चौंतीस अतिशय, पैंतीस वचनातिशय से युक्त, धर्मतीर्थ के प्रवर्तक, वर्तमान तीर्थकर सीमंधर आदि अर्हत्तों को विनम्र भाव से पंचांग प्रणतिपूर्वक वंदना—तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि वंदामि नमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि मत्थएण वंदामि।

णमो सिद्धाणं—परम सिद्धि संप्राप्त, अष्ट कर्म क्षय कर केवलज्ञान, केवलदर्शन, असंवेदन, आत्मरमण, अटल अवगाहन, अमूर्ति, अगुरुलघु और निरंतराय—इन आठ गुणों से सम्पन्न, परमात्मा, परमेश्वर, जन्म, मरण, जरा, रोग, शोक, दुःख, दारिद्र्य रहित अनंत सिद्धों को विनम्रभाव से पंचांग प्रणति पूर्वक वंदना—तिक्खुत्तो आयाहिणं.....

णमो आचरियाणं—परम आचार-कुशल, धर्मोपदेशक, धर्मधुरंधर, बहुश्रुत, मेधावी, सत्यनिष्ठ, श्रद्धा-धृति-शक्ति-शांति सम्पन्न, अष्ट गणि-सम्पदा से सुशोभित, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के ज्ञाता, चतुर्विध धर्मसंघ के शास्ता, तीर्थकर के प्रतिनिधि एवं छत्तीस गुणों के धारक वर्तमान परमपूज्य आचार्यश्री महाश्रमण आदि आचार्यों को विनम्र भाव से पंचांग प्रणतिपूर्वक वन्दना—तिक्खुत्तो आयाहिणं.....

णमो उवज्झायाणं—परमश्रुत स्वाध्यायी, धर्मसंघ में आचार्य द्वारा नियुक्त, ग्यारह अंग तथा बारह उपांग के धारक, अध्ययन और अध्यापन में कुशल—इन पच्चीस गुणों से सुशोभित उपाध्यायों को विनम्र भाव से पंचांग प्रणति पूर्वक वन्दना—तिक्खुत्तो आयाहिणं.....

णमो लोए सव्वसाहूणं—अध्यात्म-साधना में संलग्न, पांच महाव्रत, पंचेन्द्रिय निग्रह, चार कषाय-विवेक, भाव सत्य, करण सत्य, योग सत्य, क्षमा, वैराग्य, मन-वचन-काय समाहरणता, ज्ञान, दर्शन, चारित्र सम्पन्नता, वेदना और मृत्यु के प्रति सहिष्णुता—इन सत्ताईस गुणों से सुशोभित, परीषहजयी, प्रासुक एषणीय भोजी, अर्हत् और आचार्य की आज्ञा के आराधक, तपोधन साध-साध्वियों को विनम्र भाव से पंचांग प्रणति पूर्वक वन्दना—तिक्खुत्तो आयाहिणं....

परिशिष्ट-२ प्रतिक्रमण करने की विधि

प्रथम मन, वचन, काया के योगों को स्थिर कर 'तिक्खुत्तो के पाठ से विधि सहित गुरुदेव को नमस्कार कर, हाथ जोड़ 'चउवीसत्थव' की आज्ञा लेकर 'चउवीसत्थव' करे।

'चउवीसत्थव' की विधि: 'ईर्यापथिकी' सूत्र का पाठ पढ़े, 'तस्सुत्तरी' के पाठ में 'तावकायं' तक प्रकट कह कर शरीर की हलन-चलन क्रिया को रोक कर ध्यान करें। ध्यान में 'ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि' कह कर 'ईर्यापथिकी'^१ का पाठ पढ़ें और एक नमस्कार मंत्र का स्मरण कर ध्यान पूरा करें। पीछे 'लोगस्स' का पाठ कह कर दायें घुटने को जमीन पर टेक कर बाएं घुटने को जमीने से चार अंगुल ऊंचा रख कर 'नमोत्थुणं' का पाठ कहें। फिर गुरुदेव को वन्दन कर 'दैवसिक' प्रतिक्रमण की आज्ञा ले। 'मत्थएण वन्दामि' प्रथम आवश्यक की आज्ञा है ऐसा कहे।

सामायिक आवश्यक में खड़ा होकर 'आवस्सही इच्छाकारेण', एक नमस्कार मन्त्र, सामायिक सूत्र, इच्छामि ठाइउं काउसगं' 'तस्स उत्तरी' के पाठ में 'तावकायं' तक प्रकट कह कर ध्यान करे, ध्यान में 'ठाणेणं, मोणेणं, झाणेणं, अप्पाणं, वोसिरामि' कह कर चौदह ज्ञान के अतिचार, पांच सम्यक्त्व के, साठ व्रतों के तथा पन्द्रह कर्मादान (सातवें व्रत के अतिचार के संलग्न कहना), पांच संलेखना के—ये निन्यानवें अतिचार, अठारह पाप स्थान, मूल गुण, पांच अणुव्रत आदि 'इच्छामि आलोइउं' और एक नमस्कार मन्त्र कहकर ध्यान पारे। प्रथम आवश्यक समाप्त, ऐसा कहे।

'मत्थएण वंदामि' द्वितीय आवश्यक की आज्ञा है—ऐसा कह कर लोगस्स का पाठ एक बार पढ़े। द्वितीय आवश्यक समाप्त, ऐसा कहे।

१. इसके विषय में दो परम्पराएं हैं। एक ईर्यापथिक सूत्र का समर्थन करती है और दूसरी लोगस्स का। प्रस्तुत ग्रंथ के विवेचन-काल में तेरापंथ में पहली परम्परा चालू थी। वर्तमान में दूसरी परम्परा चालू है।

‘मत्थएण वंदामि’ तृतीय आवश्यक की आज्ञा है, ऐसा कहे। तृतीय आवश्यक में खड़ा होकर ‘खमासमण’ का पाठ कहे। ‘खमासमण’ में ‘निसीहियाए’ (शब्द) आए तब हाथ जोड़ कर खड़ा-खड़ा वन्दना करे, ‘अणुजाणह मे मिउग्गहं’ (शब्द) आए तब दूसरी बार वन्दना करके ‘निसीहि’ कह कर दोनों घुटनों को खड़े रख कर गोदुग्धासन की तरह बैठ कर ‘दिवसो वइक्कंतो’ (शब्द) आये तब तीसरी बार वन्दना करे। ‘जत्ता भे’ (शब्द) आए तब चौथी बार वन्दना करे। ‘जवणिज्जं च भे’ (शब्द) आए तब पांचवीं बार वन्दना करे। ‘देवसियं वइक्कम्मं’ (शब्द) आए तब छठी बार वन्दना करके ‘आवस्सियाए’ पडिक्कमामि’ आदि सर्व पाठ खड़ा होकर कहे। दूसरी बार फिर ‘खमासमण’ का पाठ उपर्युक्त रीति से करे, परन्तु ‘निसीहि’ कह कर बैठने के बाद उठे नहीं। शेष सब प्रथम ‘खमासमण’ के अनुसार ही करे। तीसरा आवश्यक समाप्त, ऐसा कहे।^१

‘मत्थएण वंदामि’ चौथे आवश्यक की आज्ञा है—ऐसा कहे। फिर खड़ा होकर नित्रानवे अतिचार आदि का जो ध्यान किया था, वह प्रकट कहे। फिर बैठकर दांयें घुटने को ऊंचा रख कर दोनों हाथ जोड़कर नीचे लिखे अनुसार ८ पाठ कहे। १. तस्स सव्वस्स, २. नमस्कार मन्त्र, ३. सामायिक, ४. चत्तारि मंगलं, ५. इच्छामि पडिक्कमिउं जो मे, ६. इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए, ७. आगमे तिविहे’ (मूल पाठ) ८. दंसणंसिरिसमत्तं (मूल पाठ) बारह व्रत अतिचार सहित (मूल पाठ) पांच संलेखना का अतिचार (मूल पाठ) अठारह पापस्थान, इच्छामि पडिक्कमिउं जो मे, तस्स^२ धम्मस्स केवली-पन्नत्तस्स अब्भुट्टिओमि’ कह कर खड़ा होवे फिर ‘विरओमि विराहणाए’ आदि शेष पाठ कह कर ‘खमासमण’ का पाठ दो बार विधिवत् कहे, फिर घुटना नीचे जमीन पर रखकर पांच पदों की वन्दना देकर खड़ा होकर ‘खामेमि सव्वे जीवा’,

१. प्रथम और द्वितीय आवश्यक खड़े-खड़े करें।

२. ‘खमासमण’ के पाठ में दिवस, रात्रि, पक्ष, चतुर्मास, संवत्सर सम्बन्धी प्रतिक्रमण में अनुक्रम से निम्नलिखित पाठ कहे—

‘दिवसो वइक्कंतो, राई वइक्कंतो, दिवसो पक्खो वइक्कंतो, दिवसो चउमासो पक्खो वइक्कंतो, दिवसो संवच्छरो वइक्कंतो, देवसियं वइक्कम्मं, राइयं, वइक्कम्मं, देवसियं पक्खियं वइक्कम्मं, देवसियं चउमासियं पक्खियं वइक्कम्मं, देवसियं संवच्छरियं वइक्कम्मं। देवसियाए आसायणाए, राइयाए आसायणाए, देवसिय पक्खिय आसायणाए, देवसिय चउमासिय पक्खिय आसायणाए, देवसिय संवच्छरिय आसायणाए’, ऐसा कहे।

सात लाख पृथ्वीकाय का पाठ कहे। चौथा आवश्यक समाप्त, ऐसा कहे।

‘मत्थएणं वंदामि’ पांचवें आवश्यक की आज्ञा है, ऐसा कहे। फिर खड़ा होकर ‘देवसिय पायच्छित्तं’, नमस्कार मन्त्र, सामायिक, ‘इच्छामि ठाइडं’, ‘तस्स उत्तरी’ पाठ में ‘ताव कायं’ तक प्रकट कह कर पीछे ध्यान करे। ध्यान में ‘ठाणेणं, मोणेणं, झाणेणं, अप्पाणं, वोसिरामि’ कहकर दैवसिक तथा रात्रि प्रतिक्रमण में ४ ‘लोगस्स’, पाक्षिक में १२, ‘लोगस्स’, चतुर्मासिक में २० ‘लोगस्स’, संवत्सरी में ४० ‘लोगस्स’ का ध्यान करे। एक नमस्कार मन्त्र कह कर ध्यान खोले। फिर एक बार ‘लोगस्स’ का पाठ और दो बार ‘खमासमण’ का पाठ पूर्वोक्त विधि से कह कर, पांचवां आवश्यक समाप्त—ऐसा कहे।

‘मत्थएण वंदामि’ छठे आवश्यक की आज्ञा है—ऐसा कहे। फिर भूतकाल का प्रतिक्रमण, वर्तमान काल की सामायिक तथा भविष्यत् काल का प्रत्याख्यान ऐसा कह कर यथाशक्ति दैवसिक तथा रात्रिक में एक दिन का, पाक्षिक में एक पक्ष का, चातुर्मासिक में चार मास का तथा सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में एक वर्ष का प्रत्याख्यान करे।

फिर १. सामायिक, २. चौबीसत्थव, ३. वन्दना, ४. प्रतिक्रमण, ५. कायोत्सर्ग, ६. प्रत्याख्यान—ये छह आवश्यक समाप्त, ऐसा कहे। फिर इन छहों आवश्यकों में जान में, अनजान में, जो कोई अतिचार-दोष लगा हो तथा पाठ का उच्चारण करते समय मात्रा, अनुस्वार, बिन्दु, अक्षर हीन, अधिक, ऊंचा, नीचा, आगे, पीछे कहा हो तो ‘तस्स मिच्छामि दुक्कडं’ ऐसा कहे।

ऐसा कहकर पूर्वोक्त विधि से दो ‘नमोत्थुणं’ कहे जिसमें दूसरे ‘नमोत्थुणं’ में ‘ठाणं संपत्ताणं’ के स्थान में ‘ठाणं संपाविउकामाणं’ ऐसा कहे। पहला ‘नमोत्थुणं’ सिद्ध भगवान् को हो, दूसरा ‘नमोत्थुणं’ अर्हत् भगवान् को हो, तीसरा ‘नमोत्थुणं’ मम धम्मायरियस्स धम्मउवदेसगस्स थवत्थुई मंगलं मेरे धर्माचार्य गुरु पूज्य श्री श्री १००८ श्री श्री तुलसीरामजी स्वामी (वर्तमान आचार्य) को हो, ऐसा कहने के बाद पांच नमस्कार मन्त्र कहे। रात्रिक प्रतिक्रमण में पांच नमस्कार मन्त्र प्रतिक्रमण की आदि में कहे।’

१. प्रतिक्रमण में दैवसिक शब्द आए वहां देवसिओ कहे। रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक, प्रतिक्रमण में देवसिओ के स्थान पर अनुक्रम से निम्नलिखित पाठ कहे—‘राइओ’, ‘देवसिओ’, ‘देवसिओ पक्खिओ’ ‘देवसिओ चउमासिओ पक्खिओ’, ‘देवसिओ संवच्छरिओ’—ऐसा कहे।

परिशिष्ट-३
श्रावक प्रतिक्रमण^१

वंदना-विधि

(चित्र नं. १ की तरह बैठकर व झुककर प्रदक्षिणा देते हुए)
तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि वंदामि नमंसामि सक्कारेमि
सम्माणेमि कल्लाणं मंगल देवयं चेइयं पज्जुवासामि मत्थएण वंदामि।



चित्र नं. १

वंदना तथा प्रदक्षिणा देने की विधि

चतुर्विंशतिस्तव प्रारंभ

(चित्र नं. २ की तरह खड़े होकर)

'मत्थएण वंदामि' चतुर्विंशतिस्तव की आज्ञा।

१. वर्तमान में प्रचलित

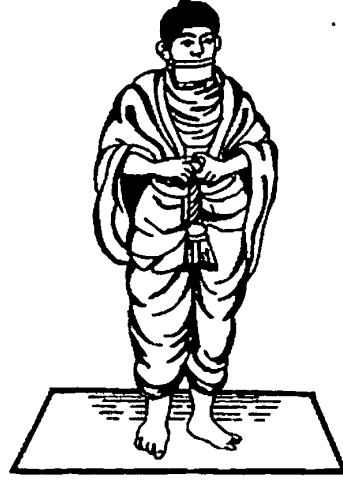
ईर्यापथिक-सूत्र

इच्छामि पडिक्कमिउं
 इरियावहियाए विराहणाए गमणागमणे
 पाणक्कमणे बीयक्कमणे हरियक्कमणे
 ओसा-उत्तिंग-पणग-दगमट्टी-मक्कडा-
 संताणासंकमणे जे मे जीवा विराहिया
 एरिंदिया बेइंदिया तेइंदिया चउरिंदिया
 पंचिंदिया अभिहया वत्तिया लेसिया
 संघाइया संघट्टिया परियाविया
 किलामिया उइविया ठाणाओ ठाणं
 संकामिया जीवियाओ ववरोविया तस्स
 मिच्छामि दुक्कडं।

कायोत्सर्ग-प्रतिज्ञा

तस्स उत्तरीकरणेणं पायच्छित्त-
 करणेणं विसोहीकरणेणं विसल्ली-
 करणेणं पावाणं कम्माणं निग्घायणट्टाए
 ठामि काउस्सगं अन्नत्थ ऊससिएणं
 नीससिएणं खासिएणं छीएणं जंभाइएणं
 उइडुएणं वायनिसग्गेणं भमलीए
 पित्तमुच्छाए सुहुमेहिं अंगसंचालेहिं
 सुहुमेहिं खेलसंचालेहिं सुहुमेहिं
 दिट्ठिसंचालेहिं एवमाइएहिं आगारेहिं
 अभग्गो अविराहिओ हुज्ज मे
 काउस्सग्गो जाव अरहंताणं भगवंताणं
 नमोक्कारेणं न पारेमि ताव कायं^१
 ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं
 वोसिरामि।

१. ध्यान प्रारंभ (चित्र नं. ३ की तरह)।



चित्र नं. २

प्रतिक्रमण में खड़े रहने की विधि



चित्र नं. ३

ध्यान में स्थित रहने की विधि

चतुर्विंशति-स्तव

१. लोगस्स उज्जोयगरे, धम्मतित्थयरे जिणे।
अरहंते कित्तइस्सं, चउवीसंपि केवली॥
२. उसभमजियं च वंदे, संभवमभिनंदणं च सुमइं च।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे॥
३. सुविहिं च पुप्फदंतं, सीअल सिज्जंस वासुपुज्जं च।
त्विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च वंदामि॥
४. कुंथुं अरं च मल्लिं, वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च।
वंदामि रिट्ठनेमिं, पासं तह वद्धमाणं च॥
५. एवं मए अभिथुआ, विहुय-रयमला पहीणजर-मरणा।
चउवीसंपि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु॥
६. कित्तिय वंदिय मए, जेए लोगस्स उत्तमा सिद्धा।
आरोग बोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु॥
६. चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा।
सागरवरगंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु॥

नमस्कार-सूत्र

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं,
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।

(ध्यान समाप्त)

चतुर्विंशति-स्तव

(लोगस्स का पाठ पढ़ें)

शक्र-स्तुति

नमोत्थु णं अरहंताणं भगवंताणं
 आङ्गराणं तित्थयराणं सहसंबुद्धाणं
 पुरिसोत्तमाणं पुरिस-सीहाणं पुरिसवर-
 पुंडरीयाणं पुरिस-वरगंधहत्थीणं
 लोगुत्तमाणं लोग-नाहाणं लोगहियाणं
 लोगपईवाणं लोगपज्जोयगराणं अभय-
 दयाणं चक्खुदयाणं मग्गदयाणं
 सरणदयाणं बोहिदयाणं जीवदयाणं
 धम्मदयाणं धम्मदेसयाणं धम्मनाय-
 गाणं धम्मसारहीणं धम्म-वरचाउरंत-
 चक्कवट्टीणं दीवो ताणं सरण-गई-
 पइट्ठा अप्पडिहयवरनाणदंसणधराणं
 विअट्टुत्तमाणं जिणाणं जावयाणं
 तिन्राणं तारयाणं बुद्धाणं बोहयाणं मुत्ताणं मोयगाणं सव्वण्णूणं
 सव्वदरिसीणं सिवमयलमरुय-मणंत-मक्खयमव्वाबाहमपुणरावित्ति
 सिद्धि-गइनाम-धेयं ठाणं संपत्ताणं णमो जिणाणं जियभयाणं।



चित्र नं. ४

शक्र स्तुति करने की विधि

प्रतिक्रमण-प्रारंभ

प्रथम सामायिक आवश्यक

(चित्र नं. २ की तरह खड़े होकर)

‘मत्थएण वंदामि’ प्रथम सामायिक आवश्यक की आज्ञा

प्रतिक्रमण-प्रतिज्ञा

आवस्सई इच्छाकारेण संदिसह भयवं! देवसिय^१ पडिक्कमणं
 ठाएमि देवसिय-णाण-दंसण-चरित्ताचरित्त-तवअइयारचितवणट्ठं करेमि
 काउस्सगं।

(नमस्कार सूत्र का पाठ पढ़ें)

१. रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में अनुक्रम से ‘देवसिय’ शब्द के स्थान पर—राइय, देवसिय-पक्खिय, देवसियचउमासिय-पक्खिय, देवसिय-संवच्छरिय—ऐसा कहें।

मंगल-सूत्र

चत्तारि मंगलं-अरहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं,
केवलि-पण्णत्तो धम्मो मंगलं।

चत्तारि लोगुत्तमा-अरहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू
लोगुत्तमा, केवलि-पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो।

चत्तारि सरणं पवज्जामि-अरहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे
सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि, केवलि-पण्णत्तं धम्मं सरणं
पवज्जामि।

सामायिक-प्रतिज्ञा

करेमि भंते! सामाइयं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जाव नियमं
(मुहुत्तं एगं) पज्जुवासामि दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा
वयसा कायसा, तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं
वोसिरामि।

प्रायश्चित्त-सूत्र

इच्छामि ठाइउं काउस्सगं जो मे देवसिओ अइयारो कओ काइओ
वाइओ माणसिओ उस्सुत्तो उम्मगो अकप्पो अकरणिज्जो दुज्झाओ
दुव्विचिंतिओ अणायारो अणिच्छियव्वो असावगपाउग्गो नाणे तह दंसणे
चरित्ताचरित्ते सुए सामाइए तिण्हं गुत्तीणं चउण्हं कसायाणं पंचण्हं
अणुव्वयाणं तिण्हं गुणव्वयाणं चउण्हं सिक्खावयाणं बारसविहस्स सावग-
धम्मस जं खंडियं जं विराहियं तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

कायोत्सर्ग-प्रतिज्ञा

(तस्स उत्तरी.....का पाठ 'तावकायं' तक पढ़े)

ध्यान प्रारम्भ (चित्र नं. ३ की तरह)

ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि

ज्ञान के अतिचार

अमल अन्तःकरण से अतिचार की आलोचना।
कर रहा हूँ सरलता से हृदय-ग्रन्थि विमोचना।।
सूत्र^१ के अध्ययन में अक्षर-विपर्यय जो हुआ।
पद-विपर्यय, यति-विपर्यय, कृति-विपर्यय जो हुआ।।
घोष में या विनय में बहुमान में स्वलना हुई।
काल के अतिगमन से स्वाध्याय में छलना हुई।।

दर्शन के अतिचार^२

लक्ष्य के प्रति चित्त में सन्देह या भय छा गया।
जो नहीं है लक्ष्य उसके प्रति हृदय ललचा गया।।
धर्म-फल की प्राप्ति में मानस अगर विचलित हुआ।
और मिथ्या-दर्शनों में भाव यदि विकलित हुआ।।

चारित्र के अतिचार

१. अहिंसा अणुव्रत के अतिचार

निष्करुण हो प्राणियों को कष्ट जो मैंने दिया।
पीटकर या बांध अंगोपांग का छेदन किया।।

१. आगमे तिविहे पणत्ते, तं जहा सुत्तागमे, अत्थागमे, तदुभयागमे। एअस्स सिरिणाणस्स जो मे अइयारो कओ तं आलोएमि।
जं वाइद्धं, वच्चामेलियं हीणक्खरं, अच्चक्खरं, पयहीणं, विणयहीणं घोसहीणं जोगहीणं सुदुज्जिदिन्नं, दुदुपडिच्छियं, अकाले कओ सज्जाओ, काले न कओ सज्जाओ, असज्जाए सज्जाइयं सज्जाए न सज्जाइयं, जो मे देवसिओ अइयारो कओ 'तस्स मिच्छा' मि दुक्कडं।
२. अरहंतो महदेवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो।
जिणपण्णत्तं तत्तं, इय सम्मत्तं मए गहियं।।
एअस्स सम्मत्तस्स समणोवासणं पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा, न समायरियव्वा, तं जहा-१. संका २. कंखा ३. वित्तिगिच्छा ४. पर-पासंडपसंसा ५. पर-पासंडसंथवो जो मे देवसिओ अइयारो कओ 'तस्स मिच्छा' मि दुक्कडं

लादकर अतिभार पशुओं पर स्वयं निर्दय बना।
जीविका-विछिन्न कर यह हृदय पापों से सना।।

२. सत्य अणुव्रत के अतिचार

पुष्ट आधारों बिना आरोप जो सहसा किया।
हास्य, भय या क्रोध को अतिमात्र यदि प्रश्रय दिया।।
मर्म खोला हो किसी का गलत पथ-दर्शन किया।
लेख झूठा लिख किसी को बात में ही ठग लिया।।

३. अचौर्य अणुव्रत के अतिचार

ग्रहण कर अस्तेय का व्रत जो चुराई वस्तु ली।
चोर के चोरीकरण में योग सम्मति अगर दी।।
राज्य के प्रतिषिद्ध का आयात या निर्यात भी।
कुछ दिखाया, कुछ दिया या की मिलावट हो कभी।।
तोल में या माप में प्रामाण्य जो बरता नहीं।
और लंचा-ग्रहण में कर्तव्य की जड़ता रही।।

४. ब्रह्मचर्य अणुव्रत के अतिचार

स्वादलोलुप दृष्टिलोलुप वृत्ति को प्रश्रय दिया।
तीव्र भोगासक्ति से व्यवहार कोई भी किया।।
यदि रहा कामुक दशा-उद्दीप्त वातावरण में।
और आयी हो शिथिलता ब्रह्मव्रत-आचरण में।।

५. अपरिग्रह अणुव्रत के अतिचार

अर्थ के व्यवहार में की वंचना यदि जानकर।
उच्चता अपनी दिखाई दीन पर को मानकर।।
त्याग में स्वीकृत परिधि का यदि अतिक्रम जो किया।
व्यसन, रूढ़ि प्रदर्शनों में व्यर्थ वित्त बहा दिया।।

६. दिग्ब्रत के अतिचार

राज्य-शासित देश सीमा का अतिक्रम जो किया।
और शोषण हेतु निर्हेतुक अभिक्रम जो किया।।

७. भोगोपभोग-व्रत के अतिचार

तृप्ति अल्प, अनल्प हिंसा का किया व्यवहार हो।
 बार, मात्रा का अतिक्रम कर किया आहार हो ॥
 अनुकरण-प्रियता दिखाई वस्तु के उपभोग में।
 और स्वेच्छाचारिता की अर्थहीन प्रयोग में॥
 जीविका का हेतु जो व्यवसाय वह अनिवार्य है।
 किन्तु श्रावक के लिए अतिवाद अव्यवहार्य है॥
 महाहिंसा और वन को काटना अज्ञान है।
 यथासम्भव त्याज्य मन से सभी कर्मादान हैं॥

८. अनर्थदंड-व्रत के अतिचार

हास्य-युक्त अशिष्ट वाणी का किया विनियोग हो।
 और कायिक चपलता का साथ उसके योग हो॥
 व्यर्थ की वाचालता, आया कलह का वेग हो।
 हो गया यदि निष्प्रयोजन वस्तु का अतिरेक हो॥

९. सामायिक व्रत के अतिचार

साम्य के अभ्यास में मन मलिनता यदि आ गई।
 वचन, काया पर कलुषता की घटा यदि छा गई॥
 सहज कृत-संकल्प का विस्मरण जैसा हो गया।
 काल-मर्यादाकलन में चित्त स्थिरता खो गया॥

१०. देशावकाशिक व्रत के अतिचार

सावधिक संकल्प सीमा का अतिक्रम जो किया।
 दिवसचर्या रात्रिचर्या का व्यतिक्रम जो किया।
 प्रेष्य द्वारा यदि किया व्यवसाय वर्जित देश में।
 वस्तु का आयात या निर्यात भावावेश में॥

११. पोषधोपवास व्रत के अतिचार

पूर्ण पौषध की यथाविधि की न हो आराधना।
स्थान या उत्सर्ग-विधि की, की न सम्यक् साधना।।
की न प्रतिलेखन प्रमार्जन की सविधि अनुपालना।
धर्म जागरिका-विषय में की न यदि परिचालना

१२. यथासंविभाग व्रत के अतिचार

यदि प्रमाद, प्रवंचना से देय को दूषित किया।
नाम, शोभा, ख्याति मत्सर भाव से यदि हो दिया।।

१३. संलेखना के अतिचार

ऐहलौकिक पारलौकिक वस्तु में प्रियता रही।
और जीवन-मरण में आसक्ति की धारा बही।।
काम-भोगों के लिए यदि चित्त व्याकुल हो गया।
भीति और प्रमाद से चैतन्य मेरा सो गया।।
पांच अणुव्रत सात शिक्षाव्रत यही जीवननिधि।
सतत संयम-साधना से पूर्ण हो श्रावक-विधि।।
साधना में अति-व्यतिक्रम, अति अनाचरणं कृतं।
विफल हों सब पाप स्वीकृत करूं मिथ्या दुष्कृतं।

पाप-स्थान

१. प्राणातिपात	७. मान	१३. अभ्याख्यान
२. मृषावाद	८. माया	१४. पैशुन्य
३. अदत्तादान	९. लोभ	१५. परपरिवाद
४. मैथुन	१०. राग	१६. रति-अरति
५. परिग्रह	११. द्वेष	१७. मायामृषा
६. क्रोध	१२. कलह	१९. मिथ्यादर्शनशल्य

यदि मैंने अठारह पाप सेवन किये हों, तो दैवसिक प्रतिक्रमण सम्बन्धी
तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

प्रायश्चित्त-सूत्र

इच्छामि आलोइउं जो मे देवसिओ अइयारो कओ काइओ वाइओ माणसिओ उस्सुत्तो उम्मगो अकप्पो अकरणिज्जो दुज्झाओ दुव्विचिंतिओ अणायारो अणिच्छिअव्वो असावगपाउगो नाणे तह दंसणे चरित्ताचरित्ते सुए सामाइए तिण्हं गुत्तीणं चउण्हं कसायाणं पंचण्हं अणुव्वयाणं तिण्हं गुणव्वयाणं चउण्हं सिक्खावयाणं बारसविहस्स सावग-धम्मस्स जं खंडियं जं विराहियं तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

(नमस्कार सूत्र पढ़ें)

(ध्यान समाप्त)

द्वितीय चतुर्विंशति-स्तव आवश्यक

‘मत्थएण वंदामि’ द्वितीय चतुर्विंशति-स्तव आवश्यक की आज्ञा।

चतुर्विंशति-स्तव

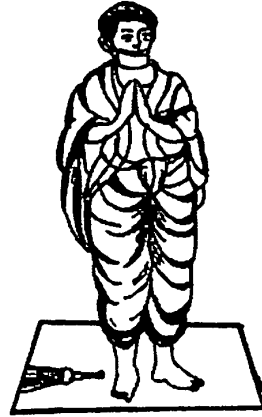
(लोगस्स का पाठ पढ़ें)

तृतीय वन्दना आवश्यक

‘मत्थएण वंदामि’, तृतीय ‘वन्दना’ आवश्यक की आज्ञा।

वन्दना-सूत्र (दो बार)

इच्छामि खमासमणो! वंदिउं,
जावणिज्जाए निसीहियाए*। अणुजाणह
मे मिउग्गहं*। निसीहि^१ अहोकायं
कायसंफासं। खमणिज्जो भे किलामो।
अप्पकिलंताणं बहुसुभेण भे दिवसो
वइक्कंतो?* जत्ता भे?* जवणिज्जं च
भे?* खामेमि खमासमणो! देवसियं
वइक्कमं* आवस्सियाए^२ पडिक्कमामि
खमासमणाणं देवसियाए आसायणाए



चित्र नं. ५

वन्दना आवश्यक में खड़े, रहकर व बैठकर वन्दना करने की विधि

*चिह्नंकित स्थानों पर खड़े होने पर चित्र नं. ५ की तरह और बैठने पर चित्र नं. ६ की तरह वन्दना करें। १. चित्र नं. ६ की तरह। २. चित्र नं. ५ की तरह।

तित्तीसन्नयराए, जं किंचि मिच्छाए मणदुक्कडाए वयदुक्कडाए
कायदुक्कडाए कोहाए माणाए मायाए लोभाए सब्बकालियाए
सब्बमिच्छोवयाराए सब्बधम्माइक्कमणाए आसायणाए जो मे देवसिओ
अइयारो कओ तस्स खमासमणो! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं
वोसिरामि।

‘मत्थएण वंदामि’ चतुर्थ ‘प्रतिक्रमण’ आवश्यक की आज्ञा

चतुर्थ प्रतिक्रमण आवश्यक

आलोचना-सूत्र

(चित्र नं. ७ की तरह बैठकर)

तस्स सब्बस्स देवसियस्स^१
अइयारस्स दुच्चितिय-दुब्भासिय-
दुच्चिट्टियस्स आलोयंतो पडिक्कमामि
निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

प्रायश्चित्त-सूत्र

इच्छामि पडिक्कमिडं जो मे देवसिओ
अइयारो कओ काइओ वाइओ
माणसिओ उस्सुत्तो उम्मगो अकप्पो
अकरणिज्जो दुज्झाओ दुब्बिचिंतियो
अणायारो अणिच्छिअव्वो
असावगपाउगो नाणे तह दंसणे
चरित्ताचरित्ते सुए सामाइए तिण्हं गुत्तीणं
चउण्हं कसायाणं पंचण्हं अणुव्वयाणं
तिण्हं गुणव्वयाणं चउण्हं सिक्खावयाणं
बारसविहस्स सावगधम्मस्स जं खंडियं जं
विराहियं तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।



चित्र नं. ६

वंदना आत्मशुद्धि में बैठकर वंदना
करने की विधि



चित्र नं. ७

प्रतिक्रमण आवश्यक में बैठने
की विधि

१. रात्रिक, पाक्षिक, चौमासिक, सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में अनुक्रम से ‘देवसिय’ शब्द के स्थान पर—राइय, देवसिय-पक्खिय, देवसियचउमासिय-पक्खिय, देवसिय-संवच्छरिय—ऐसा कहें।

ईर्यापथिक-सूत्र

(इच्छामि पडिक्कमिउं, इरियावहियाएका पाठ पढ़ें)

रत्नत्रय

साधना रत्न-त्रयी की विनयनत हो मैं करूं।
 एक लय हो एक रस हो भाव-तन्मयता वरूं।
 ज्ञान, दर्शन, चरण की पावन त्रिवेणी में नहा।
 देव! मैं निर्मल बनूं यह स्वप्न मानस में रहा।।
 प्राप्त सम्यग् ज्ञान मुझको और दर्शन भी मिला।
 आचरण का सुमन सुन्दर हृदय-वनिका में खिला।।

ज्ञान

आगमे तिविहे पणत्ते, तं जहा-सुत्तागमे, अत्थागमे, तदुभयागमे।

अर्हतों के अनुभवों का आगमों में सार है।
 वह हमारी साधना का प्राणमय आधार है।।
 सूत्र आगम, अर्थ आगम, तदुभयागम रम्य है।
 विविध नय की दृष्टियों में सहज सरल सुगम्य है।।

ज्ञान के अतिचार

अमल अन्तःकरण से अतिचार की आलोचना।
 कर रहा हूं सरलता से हृदय-ग्रन्थि विमोचना।।
 सूत्र के अध्ययन में अक्षर-विपर्यय जो हुआ।
 पद-विपर्यय, यति-विपर्यय, कृति-विपर्यय जो हुआ।।
 घोष में या विनय में बहुमान में खलना हुई।
 काल के अतिगमन से स्वाध्याय में छलना हुई।।

दर्शन-सम्यक्त्व

अरहंतो महदेवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो।
 जिणपण्णत्तं तत्तं, इय सम्मत्तं मए गहियं॥
 देव मेरे दिव्य अर्हन्, श्रेष्ठ सारे लोक में।
 साधना-धन साधु मेरे सुगुरु पथ-आलोक में॥
 धर्म वह जो साधना-पथ केवली उपदिष्ट है।
 आत्म-निष्ठामय अमल सम्यक्त्व मुझको इष्ट है॥

सम्यक्त्व के लक्षण

शांत हैं आवेग सारे, शांति मन में व्याप्त है।
 मुक्त होने की हृदय में प्रेरणा पर्याप्त है॥
 वृत्ति में वैराग्य, अन्तर्भाव में करुणा विमल।
 अटल आस्था ये सभी सम्यक्त्व के लक्षण सबल॥

सम्यक्त्व के भूषण

लक्ष्य में स्थिरता निरंतर भक्ति-भावित भावना।
 धर्म शासन की करुं निःस्वार्थ सतत प्रभावना।
 जैन तत्त्वज्ञान में हो सहज जिज्ञासा प्रबल।
 संघ-सेवा, ये सभी सम्यक्त्व के भूषण अमल॥

दर्शन के अतिचार

लक्ष्य के प्रति चित्त में संदेह या भय छा गया।
 जो नहीं है लक्ष्य उसके प्रति हृदय ललचा गया॥
 धर्म-फल की प्राप्ति में मानस अगर विचलित हुआ।
 और मिथ्या-दर्शनों में भाव यदि विकलित हुआ॥

बारह व्रत और अतिचार

१. अहिंसा अणुव्रत

● पढमं अणुव्वयं थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं
 धन्य हैं मुनिवर महाव्रत पालते सद्भाव से।
 सर्व हिंसा त्याग कर वे जी रहे समभाव से॥
 है महाव्रत साध्य मेरा किन्तु वह दुःसाध्य है।
 पर अणुव्रत-मार्ग मध्यम सरल और सुसाध्य है॥
 स्वत्व-रक्षा के लिए मैं भाव से प्रतिबद्ध हूँ।
 देश की हित-सिद्धि के दायित्व से आबद्ध हूँ।
 देहधारी हूँ, अतः आरम्भ भी अनिवार्य है।
 किन्तु यह संकल्पजा हिंसा सदा परिहार्य है॥

अहिंसा अणुव्रत के अतिचार

निष्करण हो प्राणियों को कष्ट जो मैंने दिया।
 पीटकर या बांध अंगोपांग का छेदन किया॥
 लादकर अतिभार पशुओं पर स्वयं निर्दय बना।
 जीविका विच्छिन्न कर यह हृदय पापों से सना॥

दैवसिक प्रतिक्रमण संबंधी 'तस्स मिच्छा मि दुक्कडं'

२. सत्य अणुव्रत

● बीयं अणुव्वयं थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं
 ताप और प्रकाश जैसे भिन्न हो सकते नहीं।
 क्या अहिंसा सत्य वैसे भिन्न हो सकते कहीं?
 फिर अहिंसक के लिए यह सत्य तो अनिवार्य है।
 सरलता की सिद्धि का यह व्रत मुझे स्वीकार्य है॥
 मैं नहीं दूंगा कभी झूठी गवाही जानकर।
 ना धरोहर को नकारूंगा स्वयं की मानकर॥
 भूमि विक्रय और विक्रय वस्तुओं का हो भले।
 वर-वधू सम्बन्ध में ना झूठ मेरे में पले॥

सत्य अणुव्रत के अतिचार

पुष्ट आधारों बिना आरोप जो सहसा किया।
हास्य, भय या क्रोध को अतिमात्र यदि प्रश्रय दिया।।
मर्म खोला हो किसी का, गलत पथ-दर्शन किया।
लेख झूठा लिख किसी को बात में ही ठग लिया।।

दैवसिक प्रतिक्रमण संबंधी 'तस्स मिच्छा मि दुक्कडं'

३. अचौर्य अणुव्रत

● तइयं अणुव्वयं थूलाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं

सत्य-निष्ठा के बिना क्या नीति-निष्ठा है कहीं?
नीति-निष्ठा के बिना फिर सत्य-निष्ठा भी नहीं।।
हो अटल संकल्प मेरा नित्य प्रामाणिक रहूं।
दूसरों के स्वत्व के अपहरण से बचता रहूं।।

अचौर्य अणुव्रत के अतिचार

ग्रहण कर अस्तेय का व्रत जो चुराई वस्तु ली।
चोर के चोरीकरण में योग सम्मति अगर दी।।
राज्य के प्रतिषिद्ध का आयात या निर्यात भी।
कुछ दिखाया कुछ दिया या की मिलावट हो कभी।।
तोल में या माप में प्रामाण्य जो बरता नहीं।
और लंचा -ग्रहण में कर्त्तव्य की जड़ता रही।

दैवसिक प्रतिक्रमण संबंधी 'तस्स मिच्छा मि दुक्कडं'

४. ब्रह्मचर्य अणुव्रत

● चउत्थं अणुव्वयं थूलाओ मेहुणाओ वेरमणं

ब्रह्मचर्य पवित्रता की साधना का सेतु है।
ऊर्ध्वगामी चेतना का यह विलक्षण हेतु है।।
यथासंभव वस्ति-संयम खाद्य-संयम में करूं।
प्राण-जय, इन्द्रिय-विजय से वासना को मैं हरूं।।

ब्रह्मचर्य अणुव्रत अतिचार

स्वादलोलुप दृष्टिलोलुप वृत्ति को प्रश्रय दिया।
तीव्र भोगासक्ति से व्यवहार कोई भी किया।।
यदि रहा कामुक दशा उदीप्त वातावरण में।
और आयी हो शिथिलता ब्रह्मव्रत-आचरण में।।
दैवसिक प्रतिक्रमण संबंधी 'तस्स मिच्छा मि दुक्कडं'

५. अपरिग्रह अणुव्रत

● पंचमं अणुव्ययं थूलाओ परिग्गहाओ वेरमणं

अर्थ-संग्रह मान्य केवल जीविका-निर्वाह में।
अर्थ की आसक्ति लाती दोष भाव-प्रवाह में।।
व्यक्तिगत संग्रह बढ़ाता व्यसन और विलास को।
क्रूरता, छलना, अनैतिक साधनों की प्यास को।।
भावना है कब परिग्रह का विसर्जन मैं करूं।
और इस दुस्तर नदी को चाहता हूं मैं तरूं।।
अतः अपरिग्रह अणुव्रत हृदय से स्वीकार्य है।।
न्याय, समता की प्रतिष्ठा के लिए अनिवार्य है।।

अपरिग्रह अणुव्रत के अतिचार

अर्थ के व्यवहार में की वंचना यदि जानकर।
उच्चता अपनी दिखाई दीन पर को मानकर।।
त्याग में स्वीकृत परिधि का यदि अतिक्रम जो किया।
व्यसन, रूढ़ि, प्रदर्शनों में व्यर्थ वित्त बहा दिया।।
दैवसिक प्रतिक्रमण संबंधी 'तस्स मिच्छा मि दुक्कडं'

६. दिग्गमन

● छट्ठं दिसिपरिमाण-वयं

अपर के अधिकार, हित का हरण करना हेय है।
इसलिए दिग्गमन का व्रत श्रेय है, आदेय है।।
नियत सीमा से परे सोद्देश्य मैं जाऊं नहीं।
व्यर्थ यातायात के श्रम में उलझ पाऊं नहीं।।

दिग्ब्रत के अतिचार

राज्य-शासित देश-सीमा का अतिक्रम जो किया।
और शोषण-हेतु निर्हेतुक अभिक्रम जो किया।।
दैवसिक प्रतिक्रमण संबंधी 'तस्स मिच्छा मि दुक्कडं'

७. भोगोपभोग-परिमाणव्रत**● सत्तमं भोगोपभोग-परिमाण-वयं :**

भोग के साधन विपुल हैं, अतुल मन की लालसा।
लालसा की पूर्ति में आरम्भ है भूचाल-सा।
खाद्य-संयम, वस्त्र-संयम वस्तु का संयम बढ़े।
भोग या उपभोग का संयम सफलता से सधे।।

भोगोपभोग-परिमाणव्रत के अतिचार

तृप्ति अल्प, अनल्प हिंसा का किया व्यवहार हो।
बार, मात्रा का अतिक्रम कर किया आहार हो।।
अनुकरण-प्रियता दिखाई वस्तु के उपभोग में।
और स्वेच्छाचारिता की अर्थहीन प्रयोग में।।
जीविका का हेतु जो व्यवसाय वह अनिवार्य है।
किन्तु श्रावक के लिए अतिवाद अव्यवहार्य है।
महाहिंसा और वन को काटना अज्ञान है।
यथासंभव त्याज्य मन से सभी कर्मादान हैं।।
दैवसिक प्रतिक्रमण संबंधी 'तस्स मिच्छा मि दुक्कडं'

८. अनर्थदंड विरमणव्रत**● अट्टमं अणट्टदंड-वेरमण-वयं**

दूसरों की अहित-चिंता चित्त का दुर्ध्यान है।
स्व-प्रमादाचरण हिंसा-पंथ में प्रस्थान है।।
द्यूत, चौर्यादि प्रशिक्षण, शस्त्र का अनुदान है।
यह अनर्थक-दण्ड इसका पूर्ण प्रत्याख्यान है।।

अनर्थदंड विरमण व्रत के अतिचार

हास्य-युक्त अशिष्टवाणी का किया विनियोग हो।
और कायिक चपलता का साथ उसके योग हो।।

व्यर्थ की वाचालता, आया कलह का वेग हो।
हो गया यदि निष्प्रयोजन, वस्तु का अतिरेक हो॥
दैवसिक प्रतिक्रमण संबंधी 'तस्स मिच्छा मि दुक्कडं'

९. सामायिक व्रत

नवमं सामाङ्ग्य-वयं

धर्म है समता, विषमता पाप का आधार है।
जैन शासन के निरूपण का यही बस सार है॥
त्याग कर सावद्य-चर्या सुखद सामायिक करूं।
लीन अपने आप में हो, मैं भवोदधि को तरूं॥

सामायिक व्रत के अतिचार

साम्य के अभ्यास में मन-मलिनता यदि आ गई।
वचन, काया पर कलुषता की घटा यदि छा गई॥
सहज कृत-संकल्प का विस्मरण जैसा हो गया।
काल-मर्यादाकलन में चित्त स्थिरता खो गया॥
दैवसिक प्रतिक्रमण संबंधी 'तस्स मिच्छा मि दुक्कडं'

१०. देशावकाशिक व्रत

● दसमं देसावगासिय-वयं

त्याग हिंसा आदि का सामान्य आजीवन किया।
और यातायात-सीमा हेतु दिव्रत भी लिया॥
एक निश्चित समय तक उनको नियन्त्रित मैं करूं।
स्वल्पकालिक त्यागमय देशावकाशिक व्रत वरूं॥

देशावकाशिक व्रत के अतिचार

सावधिक संकल्प-सीमा का अतिक्रम जो किया।
दिवसचर्या रात्रिचर्या का व्यतिक्रम जो किया॥
प्रेष्य द्वारा यदि किया व्यवसाय वर्जित देश में।
वस्तु का आयात या निर्यात भावावेश में॥
दैवसिक प्रतिक्रमण संबंधी 'तस्स मिच्छा मि दुक्कडं'

११. पौषधोपवास व्रत

● एगारसमं पडिपुण्णपोसहोववास-वयं

पर्व-तिथि में पूर्ण पौषध, साथ में उपवास हो।
त्याग कर सावद्य-चर्या अन्तरात्म-निवास हो।।
रात्रि-दिन पर्यन्त में मुनि-वेश-भूषा में रहूं।
मोह-ममता से विलग, समभाव से सब कुछ सहूं।।

पौषधोपवास व्रत के अतिचार

पूर्ण पौषध की यथाविधि की न हो आराधना।
स्थान या उत्सर्ग-विधि की, की न सम्यक् साधना।।
की न प्रतिलेखन प्रमार्जन की सविधि अनुपालना।
धर्म-जागरिका विषय में की न यदि परिचालना।।
दैवसिक प्रतिक्रमण संबंधी 'तस्स मिच्छा मि दुक्कडं'

१२. यथासंविभाग व्रत

● बारसमं जहासंविभाग-वयं

मैं सदा आरंभजीवी, मुनि अहिंसा-शूर हैं।
मैं परिग्रह में निरत हूँ, साधु उससे दूर हैं।
प्रवर संयम-साधना में संविभागी मैं बनूँ।
खाद्य-संयम, वस्तु-संयम का सहज साधक बनूँ।
वस्त्र, भोजन, पात्र, औषध सहज मेरे पास है।
और रहने के लिए आवास में अवकाश है।
धन्य वह दिन मुनिप्रवर को ये समर्पित मैं करूँ।
भावना के प्रबल बल से शीघ्र भवसागर तरूँ।

यथासंविभाग-व्रत के अतिचार

यदि प्रमाद प्रवंचना से देय को दूषित किया।
नाम, शोभा, ख्याति मत्सर भाव से यदि हो दिया।
दैवसिक प्रतिक्रमण संबंधी 'तस्स मिच्छा मि दुक्कडं'

संलेखना**मारणांतिय संलेखना**

देह की संलेखनामय मृत्यु पावन पर्व है।
दीर्घकालिक साधना का सफल सात्त्विक गर्व है।।
मृत्यु की सन्निकटता या देह-शक्ति क्षीण हो।
प्रवर तप के आचरण में भावना संलीन हो।।

संलेखना का अतिचार

ऐहलौकिक पारलौकिक वस्तु में प्रियता रही।
और जीवन-मरण में आसक्ति की धारा बही।।
काम-भोगों के लिए यदि चित्त व्याकुल हो गया।
भीति और प्रमाद से चैतन्य मेरा सो गया।।
दैवसिक प्रतिक्रमण संबंधी 'तस्स मिच्छा मि दुक्कडं'
पांच अणुव्रत सात शिक्षाव्रत यही जीवन निधि।
सतत संयम-साधना से पूर्ण हो श्रावक-विधि।।
साधना में अति-व्यतिक्रम, अति अनाचरणं कृतं।
विफल हों सब पाप, स्वीकृत करूं मिथ्या दुष्कृतं।।

अभ्युत्थान-सूत्र^१

तस्स धम्मस्स केवलिपण्णत्तस्स अढ्भुट्ठिओमि आराहणाए
विरओमि विराहणाए सव्वं तिविहेणं पडिक्कंतो वंदामि जिणे चउवीसं।

क्षमा-याचना-सूत्र

खामेमि सव्वजीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मिच्ची मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ न केणई।।
पूज्य-पूजा का व्यतिक्रम जान या अनजान में।
की अवज्ञा लघुजनों की मग्न हो अभिमान में।।
चाहता हूं मैं क्षमा, मुझको क्षमा दें वे सभी।
मित्र सब हैं, शत्रुता का भाव लाऊं ना कभी।।

१. चित्र नं. २ की तरह खड़े होकर।

जीव-योनि

सात लाख पृथ्वीकाय, सात लाख अप्काय, सात लाख तेजस्काय, सात लाख वायुकाय, दस लाख प्रत्येक वनस्पतिकाय, चौदह लाख साधारण वनस्पतिकाय, दो लाख द्वीन्द्रिय, दो लाख त्रीन्द्रिय, दो लाख चतुरिन्द्रिय, चार लाख नारकी, चार लाख देवता, चार लाख तिर्यच पंचेन्द्रिय, चौदह लाख मनुष्य की जाति, चार गति चौरासी लाख जीव-योनि पर राग-द्वेष आया हो तो 'तस्स मिच्छा मि दुक्कडं'।

पंचम कायोत्सर्ग आवश्यक

'मत्थएण वंदामि' पांचवें कायोत्सर्ग आवश्यक की आज्ञा।

कायोत्सर्ग संकल्प सूत्र

देवसिय-अइयार-विसोहणटुं करेमि काउस्सगं।

प्रायश्चित्त-सूत्र

('इच्छामि ठाडुं काउस्सगं'का पाठ पढ़ें)

कायोत्सर्ग-प्रतिज्ञा

('तस्स उत्तरी' का पाठ 'तावकायं' तक पढ़ें)

ध्यान प्रारम्भ (चित्र नं. ३ की तरह)

ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि।

चतुर्विंशति-स्तव

'लोगस्स का दैनिक और रात्रिक प्रतिक्रमण में ४, पाक्षिक में १२, चातुर्मासिक में २० और सांवत्सरिक में ४० का ध्यान करें।'।

(नमस्कार सूत्र का पाठ व ध्यान समाप्त)

(लोगस्स एक बार पढ़ें)

वंदना-सूत्र

इच्छामि खमासमणो! वंदिउं, जावणिज्जाए निसीहियाए, अणुजाणह मे मिउग्गहं। निसीहि अहोकायं कायसंफासं। खमणिज्जो भे किलामो। अप्पकिलंताणं बहुसुभेण भे दिवसो वइक्कंतो? जत्ता भे?, जवणिज्जं च भे? खामेमि खमासमणो! देवसियं वइक्कमं आवस्सियाए पडिक्कमामि खमासमणाणं देवसिआए आसायणाए तित्तीसन्नयराए, जं किंचि मिच्छाए मणदुक्कडाए वयदुक्कडाए कायदुक्कडाए कोहाए माणाए

मायाए लोभाए सव्वकालियाए सव्वमिच्छोवयाराए सव्वधम्माइक्कमणाए
आसायणाए जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स खमासमणो!
पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

षष्ठ प्रत्याख्यान आवश्यक

‘मत्थएण वंदामि’ छट्टे ‘प्रत्याख्यान’ आवश्यक की आज्ञा।

अतीत का प्रतिक्रमण, वर्तमान काल की सामायिक तथा भविष्यत् काल का प्रत्याख्यान।^१

सामायिक, चतुर्विंशति-स्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान—इन छहों आवश्यकों में जाने-अनजाने जो कोई अतिचार-दोष लगा हो तथा पाठ का उच्चारण करते समय मात्रा, अनुस्वार, अक्षर हीन, अधिक, ऊंचा, नीचा, आगे पीछे कहा हो तो दैवसिक प्रतिक्रमण सम्बन्धी ‘तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।’

शक्र स्तुति

(चित्र नं. ४ की तरह बैठकर)

‘नमोत्थु णं’ (पृष्ठ १८८) का पाठ दो बार पढ़ें जिसमें दूसरे नमोत्थु णं ठाणं संपत्ताणं’ के स्थान पर ‘ठाणं संपाविउकामाणं’ ऐसा कहें।

मैं सिद्धों को नमस्कार करता हूँ,

मैं अरहंतों को नमस्कार करता हूँ,

मैं मेरे धर्माचार्य, धर्मोपदेशक गुरुदेव (वर्तमान आचार्य का नाम) को नमस्कार करता हूँ।

(‘नमस्कार सूत्र’ का पांच बार पाठ करें)

परमेष्ठी वन्दना या पंचपद वंदना^२

(चित्र नं. १ की तरह बैठकर)

१. दैवसिक तथा रात्रिक प्रतिक्रमण में कम-से-कम एक दिन तक, पाक्षिक में एक पक्ष तक, चातुर्मास में चार मास तक, सांवत्सरिक में एक वर्ष तक के लिए कोई प्रत्याख्यान करें।

२. देखें पृष्ठ १७७-१८१

परमेष्ठी वंदना

वन्दना आनन्द पुलकित, विनयनत हो मैं करूं।
एक लय हो, एक रस हो, भाव तन्मयता वरूं॥

णमो अरहंताणं

१. सहज निज आलोक से भासित स्वयं संबुद्ध हैं।
धर्म तीर्थकर शुभंकर, वीतराग विशुद्ध हैं।
गति-प्रतिष्ठा, त्राण-दाता, आवरण से मुक्त हैं।
देव अर्हन् दिव्य योगज अतिशयों से युक्त हैं॥

णमो सिद्धाणं

२. बंधनों की शृंखला से, मुक्त शक्ति-स्रोत हैं।
सहज निर्मल आत्मलय में सतत ओतःप्रोत हैं।
दग्ध कर भव बीज अंकुर, अरुज, अज, अविकार हैं।
सिद्ध परमात्मा परम, ईश्वर अपुनरवतार हैं॥

णमो आचरियाणं

३. अमलतम आचार धारा में स्वयं निष्णात हैं।
दीप सम शत दीप दीपन के लिए प्रख्यात हैं।
धर्म-शासन के धुरन्धर, धीर धर्माचार्य हैं।
प्रथम पद के प्रवर-प्रतिनिधि, प्रगति में अनिवार्य हैं॥

णमो उवज्झायाणं

४. द्वादशांगी के प्रवक्ता, ज्ञान गरिमा पुंज हैं।
साधना के शान्त उपवन में सुरम्य निकुंज हैं।
सूत्र के स्वाध्याय में संलग्न रहते हैं सदा।
उपाध्याय महान श्रुतधर, धर्म-शासन सम्पदा॥

णमो लोए सव्वसाहूणं

५. सदा लाभ-अलाभ में, सुख-दुःख में मध्यस्थ हैं।
शान्तिमय, वैराग्यमय, आनन्दमय आत्मस्थ हैं।
वासना से विरत आकृति, सहज परम प्रसन्न हैं।
साधना धन साधु अन्तर्भाव में आसन्न हैं॥

समता को अपनाने वाला पुरुष गुणी-पुरुषों के गुणों को आदर की दृष्टि से निहार सकता है, गा सकता है, उन्हें अपने जीवन में उतार सकता है। इसीलिए सामायिक के बाद चौबीस तीर्थकरों की स्तुति करने का विधान किया गया है।

गुण का महत्त्व समझ लेने के बाद ही मनुष्य गुणी के सामने सिर झुकाता है—गुरुजनों को वन्दना करता है। जब तक गुणों की वास्तविकता को न जान लिया जाए तब तक मन सरल नहीं होता और मन के सरल हुए बिना श्रद्धापूर्वक नमस्कार नहीं हो सकता। इसीलिए चतुर्विंशतिस्तव के बाद 'वंदन' को स्थान मिला है।

जिसका मन, वाणी और शरीर विनम्र हो जाता है, वह अनाचार का सेवन करना नहीं चाहता, प्रमाद के कारण यदि कोई दोष लग भी जाए तो वह उसे दबाने की कोशिश न कर अपने पाप-कर्म को धो डालने के लिए अपनी भूलों का प्रायश्चित्त करना चाहता है। अतएव वन्दन के बाद प्रतिक्रमण का स्थान नियत किया गया है।

आचार्य महाप्रज्ञ



जैन विश्व भारती
लाडनूँ -341306 (राज.)